

श्री गुरुजी और तिब्बत





डा. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री

अभिमत

डा० कुलदीप चन्द अग्निहोत्री की पुस्तक "श्री गुरुजी और तिब्बत" का अवलोकन करने का अवसर मिला। श्री गुरुजी जन्म शताब्दी के अवसर पर ऐसा प्रकाशन अत्यंत सामयिक है। श्री गुरुजी ने जिन संकटों से देश को समय रहते सावधान किया था उनमें चीन के विस्तारवादी मन्तव्य को सार्वजनिक रूप से प्रगट करना, विशेष कर जब भारत के अनेक स्वनामधन्य नेता हिन्दी चीनी भाई-भाई के राग अलाप रहे थे, एक युग द्रष्टा की साहसिक भविष्यवाणी ही कही जायेगी। पूज्य गुरुजी के व्यक्तित्व के इस आयाम को अग्निहोत्री ने अत्यंत कुशलता से उकेरा है। वे भारत माता के साथ इतने एकात्म थे कि उस पर आने वाले संकट का पूर्वाभास उन्हें सहज ही हो जाता था। तिब्बत एवं चीन संबंधी उनके विचार इस तथ्य को पूर्ण रुप से उजागर करते हैं।

भारत और तिब्बत में मात्र भौगोलिक, ऐतिहासिक या आर्थिक-राजनैतिक संबंध ही नहीं रहे अपितु वह संबंध सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर भी इतिहास के उषाकाल से ही विद्यमान रहे हैं। उस नाते भारतवासियों का तिब्बत के प्रति कैसा दृष्टिकोण होना चाहिए इन सभी विषयों पर पूजनीय श्री गुरुजी, अन्य राजनेताओं तथा पार्टियों ने समय-समय पर कैसा मार्गदर्शन किया, उसका चित्रण पुस्तक के महत्व को और बढ़ा देता है।

विश्वास है कि यह पुस्तक सुधी पाठकों को जहां एक ओर पूजनीय श्री गुरुजी की कम्युनिस्टों के क्रियाकलापों और शब्दावलियों के बारे में स्पष्ट दृष्टि से परिचित करता है वहीं तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित नेहरू की समझ का स्तर भी उजागर करती है। शुद्ध राष्ट्रभक्ति एवं क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थ में कैसा अंतर होता है वह भी इसके पढ़ने से ध्यान में आएगा।

अब समय आ गया है कि देशवासियों को उन गलतियों से शिक्षा लेनी चाहिए जो हमारे राजनेताओं ने की और जिनका फल हमें आज भुगतना पड़ रहा है। तिब्बत के मामले में तो यह चरितार्थ होता है कि "लहमों ने खता की और सदियों ने सजा पाई" तिब्बत जैसे प्रकरणों से यह सीख मिलती है कि अब आगे हम ऐसी भूलें न करें जो राष्ट्रहित को दीर्घकालीन हानि पहुंचाती हों और यह भी याद रखें कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का संचालन जब भी भावनाओं, व्यक्तिगत सनकों एवं दुर्बलताओं के आधार पर होगा तब उसका अनिष्टकारी परिणाम बहुत लम्बे समय तक भुगतना पड़ता है।

जागतिक परिस्थिति बदलती रहती है। कौन जानता था कि बर्लिन की दीवार टूट जाएगी, सोवियत रूस बिखर जाएगा, यूक्रेन तीन सौ साल बाद रूस के आधिपत्य से निकल कर स्वाधीन बन जायेगा। हमने देखा है कि यूरोप के कई देशों के नक्शे बनते बिगड़ते रहे हैं। अतः यह कोई जरूरी नहीं कि तिब्बत वैसा ही रहे जैसा कि आज है। उसकी चिति एवं विराट का जागरण जैसा होगा वैसा ही उसका भविष्य होगा।

प्रो० मुरली मनोहर जोशी
राज्य सभा सदस्य
पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री भारत सरकार

2-5

श्री गुरुजी और तिब्बत

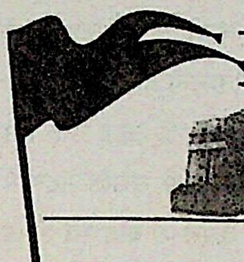
डा. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री

भारत–तिब्बत सहयोग मंच
(हिमालय परिवार से संबंधित)

प्रकाशक व वितरक
भारत–तिब्बत सहयोग मंच
(हिमालय परिवार से सम्बंधित)
१६८१, मेन बाजार, पहाड़ गंज
नई दिल्ली–११००५५

प्रथम संस्करणः अक्तूबर, २००६
मूल्यः १०० रूपये

१० मार्च १९५९
और
अक्तूबर १९६२
के
शहीदों को
समर्पित




युगाब्द : ५११०८

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

प्रधान कार्यालय
डा. हेडगेवार भवन, महाल, नागपूर – 440 032
दूरभाष : 2723003, 2720150 फॅक्स : (0712) 2721589
E-mail : hedgewarbhavan@rediffmail.com

आमुखम्

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक प. पू. श्री गुरुजी के जन्म–शताब्दी वर्ष में डॉ. कुलदीप अग्निहोत्री द्वारा लिखित पुस्तिका 'श्री गुरुजी और तिब्बत' इस बात को अत्यन्त सशक्त ढंग से रेखांकित करती है कि देश के कर्णधारों की किन 'हिमालयीन' भूलों के कारण न केवल तिब्बत की स्वतंत्रता का अपहरण हुआ अपितु भारत की उत्तरी सीमा भी पूरी तरह से असुरक्षित हो गई और आज भी बनी हुई है। आदर्शवादी स्वप्नरंजन में डूबे हुए देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू की अदूरदर्शिता का इससे बड़ा प्रमाणपत्र और क्या हो सकता है कि स्वाधीनता के पश्चात् जब तीनों सेनाओं के प्रमुखों ने अपनी भेंट के समय आगामी दस वर्षों के लिए सेना संबंधी आवश्यकताओं की सूची उनके सामने प्रस्तुत की तो नेहरू जी ने कहा–''हमें सेना की जरूरत ही क्या है? जब हम किसी पर चढ़ाई करने वाले नहीं हैं तब कोई हम पर चढ़ाई क्यों करेगा? अतः सेना को भंग कर दीजिए। विधि और व्यवस्था का प्रश्न तो हमारी पुलिस ही संभाल लेगी। ''

तीनों सेनानायक अवाक् रह गये। पाकिस्तान यदि उसी समय अपनी सेनाओं को कबाइलियों के भेष में कश्मीर में न घुसेड़ देता तो शायद सेना ही भंग कर दी गई होती। सेना भंग तो नहीं हुई किन्तु उसे अधुनातन शस्त्रास्त्रों से लैस भी नहीं किया गया। यही नहीं, अपनी अवास्तविक आदर्शवादिता और अस्थानीय उदारता में सांस्कृतिक और भावात्मक दृष्टि से भारत के साथ अनादि काल से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए देवताओं के त्रिविष्टप (आज के

तिब्बत) को चीनी दानवासुर के जबड़े में ढकेल दिया। तिब्बत को उदरस्थ करने के बाद अपनी लपलपाती जिह्वा से उसने भारत को भी ग्रसना प्रारंभ कर दिया और संसद के दोनों सदनों के सर्वसम्मत प्रस्ताव के बाद भी आज तक हम अपनी भूमि पर हुए अतिक्रमण को ही जब हटा नहीं पाये तो उसके उदर में कसमसा रहे तिब्बत को, जिसे पचाने के लाख प्रयत्न करने के बाद भी आज तक चीन पचा नहीं पाया है, हम क्या स्वतंत्र करवा पाते? बल्कि भारत की सुरक्षा के लिए तिब्बत का स्वतंत्र होना अनिवार्य है, इसे भी हमारे सत्ताधारी आज तक समझ नहीं पाये हैं। और तो और, चीनी दानवासुर की अशमनीय भूख का आकलन भी हमारे नेता आज तक नहीं कर पाये जिसके कारण आज नेपाल को भी उसके उदर में जाते हुए हम देख रहे हैं। आगे के पग के रूप में सारे भारत को लीलने का प्रयास करना उसकी योजना का अंग है।

डा. कुलदीप अग्निहोत्री का इस विषय पर लिखने का अधिकार निर्विवाद है क्योंकि वे हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के क्षेत्रीय केन्द्र धर्मशाला में निदेशक के पद पर रहे हैं और उस अवधि में धर्मशाला स्थित तिब्बत की निर्वासित सरकार के पदाधिकारियों से मिलने और संवाद साधने का उन्हें अच्छा अवसर मिला है। इस विषय पर उनकी गहरी पकड़ के कारण ही तिब्बत की मुक्ति के लिए प्रयत्नरत अनेक संगठनों को एक मंच पर लाकर भारत-तिब्बत सहयोग मंच की स्थापना करने में वे सफल हुए हैं। इस छोटे कलेवर की पुस्तिका में उन्होंने वह सारी जानकारी सुग्रथित की है जिससे पाठक को इस विषय के सारे आयाम बोधगम्य हो जाते हैं। इसको पढ़कर राजनेताओं द्वारा आज तक की गई भूलों का परिचय तो होगा ही, उनका परिमार्जन कर तिब्बत की स्वतंत्रता तथा भारत की सुरक्षा के लिए सन्नद्ध होने की प्रेरणा भी मिलेगी।

सरसंघचालक
कार्तिक कृष्ण द्वादशी
कलियुग-५१०८
ईस्वी दि. १८-१०-२००६

कुप्प. सी. सुदर्शन

अंतर्नाद : तिब्बत मुक्ति का संकल्प

ईस्वी सन् २००६ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री माधवराव सदाशिव गोलवलकर (श्रीगुरुजी) का जन्मशताब्दी वर्ष है। संघ के संस्थापक और आद्य सरसंघचालक डा. केशवराव बलिराम हेडगेवार जी के सन् १९४० में आकस्मिक निधन के उपरांत संघ का संपूर्ण दायित्व श्रीगुरुजी के कंधों पर ही आ पड़ा था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जो वर्तमान स्वरूप दिखाई देता है उसके मुख्य शिल्पियों में श्रीगुरुजी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। डा हेडगेवार जी की राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कल्पना को मूर्त रूप देने का कार्य श्रीगुरुजी ने किया। डा हेडगेवार जी ने कर्म एवं चिंतन का संतुलन स्थापित करते हुए भारतीय समाज के राजरोग के निदान एवं समाधान का सूत्र प्रस्तुत किया। श्रीगुरुजी ने उस सूत्र के आधार पर आधारभूत संरचना का निर्माण किया और संघ को दसों दिशाओं में विभिन्न प्रकल्पों के माध्यम से अभिव्यक्त कर दिया। श्री बालासाहेब देवरस जो संघ कार्य पद्धति के रचनाकार थे, उनके नेतृत्व में इस राष्ट्रीय व आध्यत्मिक यज्ञ को सामाजिक समिधा प्राप्त हुई और संघ तेज गति से सर्वजाति, पंथ व गाँव की ओर बढ़ा। संघ का कार्य कर्मकाण्ड रहित राष्ट्रीय एवं मानवीय गुणों के जागरण का यज्ञ है।

श्रीगुरुजी की जन्मशताब्दी के अवसर पर विभिन्न क्षेत्रों में उन द्वारा किये गये कार्यों का मूल्यांकन हो रहा है। विभिन्न विश्वविद्यालयों, विचारमंचों

,अकादमिक संस्थाओं और सामाजिक संगठनों द्वारा इस जन्मशताब्दी वर्ष में उनका पुण्य स्मरण हो रहा है। भारत-तिब्बत सहयोग मंच भी देश के अनेक प्रांतों में श्रीगुरुजी की स्मृति में विचार गोष्ठियों एवं जन सम्मेलनों का आयोजन कर रहा है।

श्रीगुरुजी ने तिब्बत के प्रश्न पर भारत सरकार को समय रहते ही चीन की मंशा से अवगत करवाना शुरु कर दिया था। जिस प्रकार अपने ऐतिहासिक पत्र के माध्यम से उस समय के गृह मंत्री सरदार बल्लभ भाई पटेल ने नेहरू को तिब्बत पर आ रहे संकट की आशंका से अवगत करवाया था और चीन की भावी कुटिल योजनाओं के संकेत दिये थे, उसी प्रकार श्री गुरुजी पूरे देश में अपने प्रवास के दौरान जनता को जागरूक कर रहे थे और सरकार को सचेत कर रहे थे।

वास्तव में तिब्बत का प्रश्न राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की कार्य सूची में शुरू से ही प्राथमिक रहा है। मध्य एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया का सांस्कृतिक प्रवाह अपने मूल स्रोत में एक ही उद्गम से निःसृत होता है। वैसे देखा जाये तो इस सांस्कृतिक प्रवाह में चीन का समावेश भी किया जा सकता है। परन्तु चीन में साम्यवाद के प्रसार ने इस सांस्कृतिक प्रवाह को सोख लिया और उसके कारण पूरे एशियायी सांस्कृतिक खण्ड के लिए चीन एक खतरा बनकर उभरा। तिब्बत उस खतरे का पहला शिकार हुआ और भारत दूसरा।

संघ का स्पष्ट मत रहा है कि तिब्बत का प्रश्न अप्रत्यक्ष रूप से भारत की सुरक्षा से जुड़ा है, सांस्कृतिक सुरक्षा से भी और भौगोलिक सुरक्षा से भी। बीसवीं शताब्दी के अंत तक आते-आते ऐसा आभास होने लगा था कि भारत सरकार और देश की कुछ निहित स्वार्थी शक्तियाँ जिनमें साम्यवादी टोला प्रमुख था, जनमानस में से तिब्बत के प्रश्न को मिटाने का प्रयास करने लगी हैं और देशवासियों के मन में चीन की श्रेष्ठता और शक्ति का आतंक मनोवैज्ञानिक रूप से डालने लगी हैं। पंडित नेहरू तो १९५० में ही दुनिया भर में चीन को महाशक्ति बताते हुए घूम रहे थे, जबकि उन दिनों चीन

महाशक्ति तो दूर, साधारण शक्ति भी नहीं था। लेकिन पंडित नेहरू किसी काल्पनिक महाशक्ति से डरा कर तिब्बत को आत्म समर्पण के लिए विवश कर रहे थे और भारतीयों को चीन के मुकाबले दोयम दर्जा स्वीकार करने के लिए मानसिक रूप से तैयार कर रहे थे। १९६२ के चीनी आक्रमण के कारण भारतीय रोष और जनसंकल्प प्रकट हुआ, तो पंडित नेहरू और साम्यवादियों की टोली भयभीत हो गई। लेकिन दुर्भाग्य से राजीव गांधी ने तिब्बत और चीन दोनों को लेकर अपना वही नेहरूवादी प्रयोग पुनः प्रारम्भ कर दिया। यह एक प्रकार से सभी भारतीयों का अपमान ही नहीं था बल्कि संपूर्ण एशिया में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए चीन को नया फलक प्रदान करने का राष्ट्रघाती षड्यन्त्र भी था। राष्ट्रहित के लिए इस षड्यन्त्र से लड़ना आवश्यक था इसलिए बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में भारत-तिब्बत सहयोग मंच के नाम से तिब्बत को लेकर जन जागरण के इसी आन्दोलन को आगे बढ़ाने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। (मंच की स्थापना ५ मई १९९९ को हुई थी)भारतीयों और तिब्बतियों के भीतरी संवाद सूत्रों को मजबूत किया जाने लगा। नागपुर में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विजयदशमी उत्सव पर निर्वासित तिब्बती सरकार के प्रधानमंत्री प्रो. सामदोंग रिम्पोछे को आमंत्रित किया गया। सरसंघचालक माननीय सुदर्शन जी ने तिब्बत की मुक्ति की भारतीय संदर्भों में व्याख्या की। भारत-तिब्बत सहयोग मंच ने धर्मशाला और बाद में मण्डी में परम पावन दलाई लामा जी का कोटि-कोटि भारतीयों की ओर से अभिनन्दन किया। भारतीय संसद सदस्यों और तिब्बती संसद सदस्यों के बीच दिल्ली में तिब्बत संवाद रचना का श्री गणेश हुआ। चीन की विस्तारवादी नीति एवं मनोविज्ञान से मध्य एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया के देश असुरक्षित अनुभव करते हैं। वे सभी भारत की ओर मार्गदर्शन एवं सहायता के लिए देखते हैं। भारत यह उत्तरदायित्व तभी निभा सकता है, जब वह आर्थिक व सैन्य दोनों दृष्टियों से ही सबल हो। भारत निर्बल होगा तो ये देश सहायता एवं समर्थन के लिए या तो अन्य शक्ति केन्द्रों की ओर देखेंगे या फिर चीन के आगे ही समर्पण कर देंगे। तिब्बत की घटना

ने इन देशों में भय और असहायता की भावना को बढ़ावा दिया है। दुर्भाग्य से कुछ वैश्विक शक्तियाँ भी भारत को निर्बल बनाए रखना चाहती हैं। इस पूरे परिप्रेक्ष्य में यदि भारत सरकार तिब्बत समस्या के समाधान के लिए सार्थक सक्रिय प्रयास करती है तो एशिया में लोकतांत्रिक शक्तियों का नया ध्रुवीकरण हो सकता है।

देशभर में प्रवास करते समय मेरी बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों और समाज विज्ञानियों से तिब्बत के प्रश्न पर चर्चा होती रहती है। भारत–तिब्बत सहयोग मंच की ओर से देशभर में किये जा रहे कार्यक्रमों के अवसर पर मुझे इस प्रश्न पर साधारण जन की भावनाओं का साक्षात्कार भी होता रहता है। श्री गुरु जी जन्म शताब्दी वर्ष पर तिब्बत के प्रश्न और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा इस दिशा में समय–समय पर व्यक्त मतों और प्रयासों पर समग्र दृष्टि से विचार करने का एक ऐतिहासिक अवसर आन उपस्थित हुआ है। ऐसे मूल्यांकन का लाभ यह रहता है कि अभी तक किये गये प्रयासों के अनुभव को आधार बनाकर भविष्य का रास्ता निश्चित करने में सुविधा होती है। इतना तो सभी स्वीकारते हैं कि पूरे एशिया के परिदृश्य को सकारात्मक दिशा में ले जाने के लिए तिब्बत की मुक्ति और चीनी ड्रेगन के आतंक की समाप्ति अनिवार्य है। अनेक क्षेत्रों से ऐसी माँग आ रही थी कि भारत–तिब्बत सहयोग मंच की ओर से श्री गुरुजी के जन्मशताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में जो कार्यक्रम किये जा रहे हैं, उसके निमित्त एक पुस्तक का भी प्रकाशन किया जाय, जिसके माध्यम से तिब्बत के प्रश्न पर श्री गुरुजी के विचारों एवं दिशा की जानकारी प्राप्त हो। मेरे सम्मुख मुख्य प्रश्न यह था कि यह उत्तरदायित्व किसे दिया जाये? इस कार्य के लिए एक ऐसे विद्वान् की आवश्यकता थी जो कर्म और चिन्तन दोनों स्तरों पर ही तिब्बत के आन्दोलन से जुड़ा हुआ हो, लेकिन इसके साथ ही शोध के क्षेत्र में नीर–क्षीर न्याय का विवेक भी रखता हो। इस दृष्टि से डा. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। वे भारत–तिब्बत सहयोग मंच से उसके जन्म काल से ही जुड़े हुए हैं। हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय

के क्षेत्रीय केन्द्र धर्मशाला में वे निदेशक रहे हैं और इस अवसर पर उन्हें धर्मशाला स्थित निर्वासित तिब्बती सरकार, विभिन्न तिब्बती संगठनों को जानने बूझने का अवसर भी प्राप्त हुआ है। डा. अग्निहोत्री बाल्यकाल से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक हैं। इसलिए वे संघ की विचारधारा और उसकी राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं से भी भली-भाँति परिचित हैं। अतः डा. अग्निहोत्री से यह पुस्तक लिखने का आग्रह किया। यह संतोष का विषय है कि उन्होंने यह उत्तरदायित्व उत्तम ढंग से निभाया है।

भारतीय इतिहास की दृष्टि से २००६-२००७ वर्ष अत्यंत महत्वपूर्ण है। श्री गुरुजी का जन्म शताब्दी वर्ष तो है ही इसके साथ ही १८५७ के प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की १५० वीं तथा स्वतंत्रता की साठवीं वर्षगांठ भी आ रही है। लोकमान्य तिलक की १५० वीं जयंती है और चन्द्रशेखर आजाद और भगत सिंह जी का भी जन्म शताब्दी वर्ष है। डा. बाबा साहेब अम्बेडकर की दीक्षा का स्वर्ण जयंती वर्ष है। ऐसे अवसर पर विश्व शांति एवं साधना के केन्द्र कैलाश मानसरोवर की आजादी और तिब्बत की मुक्ति का संकल्प जन-जन में जागृत करने हेतु यह पुस्तक प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करेगी। कम्युनिस्टों ने तिब्बत और चीन के प्रश्न पर भारत के हितों के स्थान पर चीन के हितों के रक्षक की भूमिका निभाई है। इसका खुलासा इस रचना में अग्निहोत्री जी ने प्राथमिक स्रोतों को उद्धृत करते हुए किया है। इससे ग्रन्थ की प्रमाणिकता बढ़ी है। पुस्तक में चीनी और भारतीय कम्युनिस्टों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत हुआ है और इसके लिए साम्यवादी स्रोतों से ही प्रमाण एकत्रित किए गए हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मानवीय सरोकारों का मूल्यांकन भी इस ग्रन्थ में हुआ है।

इस पुस्तक से एक दूसरा लाभ भी होगा। देशभर में फैले हुए भारत - तिब्बत सहयोग मंच व अन्य सस्थाओं के जो कार्यकर्ता तिब्बत के प्रश्न को लेकर जनजागरण अभियान में जुटे हैं उनके लिए भी यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी। इसे इतिहास की त्रासदी ही कहना चाहिए कि जब विश्व ग्राम की बातें हो रही हैं, स्वतंत्रता, समानता तथा लोकतंत्र के गीत गाये जा रहे हैं, उस

२१वीं शताब्दी के प्रवेश द्वार पर तिब्बत अपनी गुलामी की जंजीरें काटने के लिए लहूलुहान हो रहा है। तिब्बत के लिए भारत में चलाये जा रहे इस आन्दोलन को तिब्बत समस्या के समाधान का पुनर्जागरण काल कहा जा सकता है। यह हर्ष का विषय है कि तिब्बत के प्रश्न पर सभी राष्ट्रवादी शक्तियाँ एक मत हैं। ऐसे अवसर पर तिब्बत को लेकर श्रीगुरुजी का चिंतन तिब्बतवासियों को बल प्रदान करेगा और तिब्बत को स्वतंत्र करवाने के भारतीयों के संकल्प को भी नयी उर्जा देगा।

इन्द्रेश कुमार
केन्द्रीय समिति सदस्य,
राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ
संरक्षक,भारत–तिब्बत सहयोग मंच
संयोजक,हिंमालय परिवार

२१ अक्तूबर २००६ दीपावली
काशी (भारत)

आत्म कथ्य

तिब्बत का परतंत्र होना हाल की घटना है जिसे भारत की स्वतंत्रता के साथ पली और बढ़ी पीढ़ी ने अपनी आँखों से देखा है। भारत के राजनीतिक परिदृश्य को मोटे तौर पर तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहला वर्ग कांग्रेस का है, जिसका लंबे काल तक देश पर राज्य रहा है। दूसरा वर्ग भारतीय जनता पार्टी का कहा जा सकता है, जिसकी नाभि नाल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़ी होने के कारण पिछले एक दो दशकों से संघ परिवार की अवधारणा भी विकसित हुई है। अन्य छोटे दल इन्हीं दो समूहों से जुड़े हुए हैं। एक समूह समाजवादियों का भी है, लेकिन वे प्रारंभ से ही कभी कांग्रेस के भीतर तो कभी कांग्रेस के बाहर रहे। कालांतर में राममनोहर लोहिया के गैर कांग्रेसवाद आंदोलन के कारण सभी गैर कांग्रेसी शक्तियों को एकत्रित करने का प्रयास भी करते रहे । लेकिन समाजवादी आंदोलन देश की राजनीति का कभी केन्द्र बिंदु नहीं बन सका। बाद के वर्षों में समाजवादी समूह कांग्रेस या फिर संघ परिवार के इर्द-गिर्द ही एकत्रित होने लगे। अंततः देश के सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक जीवन के केन्द्र बिंदु में कांग्रेस और संघ परिवार स्थापित हुए। साम्यवादी आंदोलन की शुरुआत चाहे लगभग सौ साल पहले हुई थी लेकिन उसकी वैचारिक जड़ें रूस और चीन में होने के कारण, वह देश में दबाव समूह तो बन पाया, मुख्य राजनैतिक धारा नहीं।

यहाँ उपर्युक्त राजनीतिक परिदृश्य की व्याख्या सोद्देश्य है। साम्यवादी दलों को छोड़कर देश के प्रायः सभी राजनीतिक दल तिब्बत के समर्थक माने जाते हैं। पंडित नेहरू तिब्बत के प्रश्न पर चाहे जो मर्जी रुख अख्तियार करते रहे हों, कांग्रेस के लोग मोटे तौर पर तिब्बत के समर्थक ही रहे हैं। उसके बहुत से नेता तो इस प्रश्न पर अत्यंत मुखर भी थे। भारतीय जनसंघ और समाजवादी समूह तिब्बत के समर्थक ही नहीं बल्कि तिब्बत की स्वतंत्रता को भारत के जीवन मरण का प्रश्न मानते हैं। लोकसभा व राज्यसभा में पता नहीं कितनी बार तिब्बत के समर्थन में उत्तेजित वातावरण में बहसें हुई हैं।

लेकिन इस सबके बावजूद भारत सरकार की तिब्बत पर जो भूमिका है, वह आज २००६ में भी वही है जो १९५० में थी, अर्थात् तिब्बत चीन का हिस्सा है। लगभग इन छः दशकों में दिल्ली में जो सरकारें आईं, उनमें किसी न किसी रूप में प्रत्येक राजनीतिक दल की भागीदारी रही है। परंतु उसके बावजूद तिब्बत के प्रश्न पर हम आज भी वहीं खड़े हैं, जहाँ १९५० में पंडित जवाहरलाल नेहरू हमें छोड़ गए थे। यहाँ तक कि जब अटल विहारी वाजपेयी प्रधानमंत्री बने तो उन्होंने भी बीजिंग जाकर वही दोहरा दिया जो साउथ ब्लाक की दीवारों पर नेहरू लिख गए थे। बाद में उन्होंने लोकसभा में यह अवश्य कहा,"यह शिकायत जायज होगी कि आपने तिब्बत के बारे में पहले क्या कहा था। हाँ, मैंने कहा था और मुझे पीड़ा भी है। लेकिन इस पीड़ा का मैं क्या करूँ? इस पीड़ा को दूर करने का जो सबसे अच्छा उपाय हो सकता था, वह हमने निकालने की कोशिश की है।"[1] तिब्बत के प्रश्न पर यह केवल वाजपेयी की पीड़ा नहीं है। यह सारे देश की पीड़ा है। एक बार फिर मैं पंडित नेहरू का उल्लेख करूँगा। तिब्बत की वर्तमान स्थिति के लिए आम तौर पर उन्हें दोषी ठहराया जाता है। लेकिन पीड़ा उन्हें भी इसकी थी। अपनी मृत्यु से तीन दिन पूर्व (२४ मई १९६४) उन्होंने संसद सदस्य गोपाल सिंह को एक पत्र लिखा। इस पत्र में उनकी यह पीड़ा स्पष्ट झलकती है। " वर्तमान परिस्थितियों में मुझे यह स्पष्ट नहीं है कि हम लोग

तिब्बत के बारे में क्या कर सकते हैं। तिब्बत में जो कुछ हुआ, उसके बारे में हम उदासीन नहीं हैं। लेकिन इस बारे में कुछ प्रभावशाली कर पाने की स्थिति में भी नहीं हैं।''[२] लेकिन दोनों की पीड़ा अपनी जगह है और तिब्बत का मसला अपनी जगह है।

आम तौर पर कहा जाता है कि सरकारें बदलती रहती हैं, लेकिन विदेश नीति नहीं बदलती। क्योंकि विदेश नीति से स्थाई राष्ट्रीय हित जुड़े होते हैं, और सभी राजनीतिक दल विदेश नीति का निर्धारण प्रायः अपने राजनीतिक हितों से ऊपर उठकर ही करते हैं। यह सूत्र आंशिक रूप से ही सत्य है। किसी प्रश्न पर विदेश नीति अपने जन्म काल से ही गलत हो सकती है। सरकार का आकलन गलत हो सकता है या फिर दूसरे पक्ष की मंशा पहचानने में भूल हो सकती है तब यह नीति वास्तव में राष्ट्रीय हितों की पोषक न होकर राष्ट्रघाती हो जाती है। तिब्बत के मामले में भारतीय विदेश नीति का यही दुःखांत है। इसी विदेश नीति के परिणास्वरूप देश १९६२ का चीनी आक्रमण भी झेल चुका है। इस भूल की पहचान हो जाने के बाद भी साउथ ब्लाक के हठ का रहस्य क्या है?

कहीं ऐसा तो नहीं है कि तिब्बत नीति का निर्धारण ही नौकरशाही ने किया हो और राजनीतिक दल केवल उसके पीछे-पीछे चलते आ रहे हों? नौकरशाही जो पूरी ईमानदारी से पहले ब्रिटिश हितों का पोषण करती रही और अब भी कही न कहीं मानसिक रूप से लंदन से जुड़ने में गौरव का अनुभव कर रही है। अलबत्ता अब लंदन के साथ एक नया शब्द वाशिंगटन भी जुड़ गया है। तिब्बत नीति का निर्धारण यदि इन 'कैरियर डिप्लोमेट्स' ने किया हो तब तो निश्चय ही इस नीति के प्रति वर्तमान हठ के स्रोत और रहस्य कहीं अन्यत्र तलाश करने होंगे। वैसे तो भारत की तिब्बत नीति के निर्धारण में 'कैरियर डिप्लोमेट' के.एम.पणिक्कर की भूमिका सर्वज्ञात ही है। लेकिन नेहरू के युग में विदेश नीति पर नौकरशाही हावी रही हो ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि 'विदेश नीति सदा नेहरू के कार्यकलाप का एक प्रिय क्षेत्र

रही है।'[3] यह हो सकता है कि कैरियर डिप्लोमेट और पंडित नेहरू एक प्रकार के ही ब्रिटिश मदरसों से प्रशिक्षित हुए हों, इसलिए दोनों के चिंतन की दिशा एक ही रही।

क्या साउथ ब्लाक में कोई चीन समर्थक लॉबी कार्य कर रही है? या फिर वहाँ चीन के अजेय होने का भय बैठ चुका है? यह भय १९६२ की पराजय ने पैदा किया था जो शायद सचिवालय की ठहरी हुई हवा में अभी तक पसर कर बैठा है। जब पाकिस्तान की बात आती है तो साउथ ब्लाक की प्रतिक्रिया और व्यवहार अलग तरह का होता है और जब चीन की बात आती है तो वहाँ एक प्रकार का सन्नाटा पसर जाता है। पहली बार किसी रक्षा मंत्री ने कह दिया कि चीन हमारा बड़ा शत्रु है [४] तो दिल्ली में भूकंप आ गया था।

इस पूरे परिप्रेक्ष्य में श्री गुरुजी की तिब्बत के प्रश्न पर रीति-नीति की वर्तमान संदर्भों में प्रासंगिकता जानने-बूझने का अवसर आ उपस्थित हुआ है। गोलवलकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक थे। संघ की वैचारिक आधारभूमि को समझने के लिए प्रायः उन्हीं के चिंतन मनन का सहारा लिया जाता है। ऐसा नहीं है कि चीन या तिब्बत के प्रश्न को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में किसी प्रकार की दुविधा की स्थिति हो। संघ जिस सशक्त भारत की कल्पना करता है, उसमें क्लीबता या नपुंसकता के लिए स्थान नहीं है। भारत तभी सशक्त होगा यदि उसके अपने सीमांत सुरक्षित होंगे। एशिया और विशेष कर दक्षिण व दक्षिण पूर्व एशिया के छोटे देश, जो भारत और चीन दोनों के पड़ोसी हैं, चीन के व्यवहार से संत्रस्त हैं। उन देशों पर चीन 'केवल सबक सिखाने के लिए'[५] आक्रमण कर देता है। वे देश भारत की ओर आशा भरी नजरों से देख रहे थे या हैं। तिब्बत भी कभी ऐसे ही देख रहा था। लेकिन भारत तिब्बत की रक्षा नहीं कर पाया। वह अपने पड़ोसी देशों की इस कसौटी पर भी खरा नहीं उतरा। बाद में चीन का भारत पर आक्रमण, भारत के साथ-साथ दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया के देशों को भी अप्रत्यक्ष संदेश था। इस युद्ध ने कहीं न कहीं यह निर्णय भी कर

दिया कि एशिया में अंततः किसके साथ अच्छे संबंध बनाए रखना जरूरी हैं। कालांतर में नेपाल, म्यांमार इत्यादि देशों के घटनाक्रमों को इसी पृष्ठ भूमि में समझा जा सकता है।

अब जब शीत युद्ध समाप्त हो चुका है और सभी की इच्छा है, विशेष कर एशिया के देशों की, कि एक बहु ध्रुवीय विश्व व्यवस्था उभरे, भारत इस मौके को एक बार फिर हाथ से जाने दे रहा है। चीन आगे बढ़कर इस अवसर को लपक रहा है। भारत ने परमाणु शक्ति सम्पन्न देश बनकर इस दिशा में एक कदम तो उठाया है, लेकिन इस क्षेत्र में अंतिम परीक्षा तिब्बत का प्रश्न ही है और रहेगा भी। इसका यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि भारत को चीन पर आक्रमण कर देना चाहिए। वास्तव में जिस दिन भारत इस स्थिति में आ जाएगा उस दिन प्रत्यक्ष युद्ध की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। उस दिन चीन की भाषा और भाव दोनों बदल जाएँगे।

लेकिन भारत कूटनीति के क्षेत्र में तो तिब्बत का प्रश्न उठा ही सकता है। आज तिब्बत को भारत के कूटनीतिक समर्थन की ही अत्यधिक आवश्यकता है, क्योंकि उसी के चलते उसे यथार्थ स्वायत्तता प्राप्त हो सकेगी। इस क्षेत्र में तिब्बत के प्रश्न को लेकर भारत में जनजागृति की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। श्री गुरुजी इसी जनजागृति की कामना करते हैं, क्योंकि संघ का आधार राजसत्ता नहीं बल्कि लोकसत्ता की अवधारणा को पुष्ट करना है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आज जब श्री गुरुजी का जन्म शताब्दी वर्ष मना रहा है तो 'तिब्बत के प्रश्न' पर चर्चा करने का इससे उपयुक्त अवसर और भला कौन सा हो सकता है?

एक और दुःख सालता है। तिब्बत के प्रश्न की जब चर्चा होती है तो भारत के भीतर कुछ विद्वान यह तर्क देते हैं कि ल्हासा में चीन की सरकार के आ जाने के कारण तिब्बत में बहुत ज्यादा प्रगति हुई है। इन तर्कों की ध्वनि प्रायः इस प्रकार की होती है कि चीन के कारण तिब्बत अंधकारमय मध्य युग में से निकल कर प्रगति के आधुनिक युग में प्रवेश कर गया है। ऐसे तर्कशास्त्रियों

के पास पिछले पचास सालों में तिब्बत में हुई प्रगति के आँकड़े भी रहते हैं। यहाँ बहस का यह प्रश्न नहीं है कि तिब्बत में प्रगति हुई है या नहीं। असली प्रश्न यह है कि क्या किसी बलशाली देश को यह अधिकार है कि वह अपने निर्बल पड़ोसी देश पर यह तर्क देते हुए कब्जा कर ले कि पड़ोसी देश में पिछड़ापन है और वहाँ विकास नहीं हो रहा है? इसी से मिलते जुलते तर्क भारत में उस वक्त दिये जाते थे जब देश अंग्रेजों का गुलाम था। ऐसा बहुत सा साहित्य पुस्तकालयों में मिल जाएगा। ऐसे तर्क अभी भी इस देश में कुछ विद्वान् सचमुच पूरी गंभीरता से देते हैं।

भारत सरकार का तिब्बत को लेकर २००६ में भी पक्ष वही है जो पंडित नेहरू ने १९५० में लिया था। उसके अनुसार तिब्बत चीन का ही हिस्सा है लेकिन वह स्वायत्त प्रदेश है। यहाँ सरकार की नीति का एक और विरोधाभास उजागर होता है। भारत सरकार पड़ोस के देश म्यांमार से इसलिए कोई संबंध नहीं रखना चाहती क्योंकि वहाँ लोकतंत्र को दफन करके सेना ने शासन सँभाल लिया है। पड़ोसी देश नेपाल के बारे में तो भारत सरकार की आँखों का गुस्सा देखने लायक है। दिल्ली का काठमाण्डौ को स्पष्ट निर्देश है कि पहले अपने यहाँ लोकतंत्र को लागू करो तभी आगे बातचीत हो सकती है। परन्तु इसके विपरीत तिब्बत में चीन सरकार स्वायत्तता बहाल नहीं कर रही, इस प्रश्न पर चीन पर दबाव बनाना तो दूर की बात है, सरकार यह प्रश्न उठाने का साहस भी नहीं कर पा रही है, जब कि भारत ने तिब्बत को स्पष्ट आश्वासन दिया था कि वह उसकी स्वायत्तता का जामिन है। यह विरोधाभास नेहरू के समय से चला आ रहा है और साउथ ब्लॉक की विदेश शाखा में बैताल की तरह लटक रहा है। चीन के पशुबल और भारत की भीरु मानसिकता के बीच में तिब्बत चीनी साम्यवाद की सूली पर लटक रहा है।

अब प्रश्न यह कि 'श्री गुरुजी और तिब्बत' का लेखन क्यों? मेरी दृष्टि में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ मात्र एक संगठन नहीं है, वह एक वैचारिक आन्दोलन है। विश्व में दो वैचारिक धरातलों का संघर्ष प्रारम्भ से ही रहा है। एक चिंतन

अपनी मूल प्रकृति में भौतिकवादी है। वह अर्थ को केन्द्र में रखकर मानव विकास और मानव संस्कृति की ऊर्ध्वमुखी यात्रा की व्याख्या करता है। पूँजीवाद और मार्क्सवाद दोनों इसी श्रेणी में आते हैं। अमेरिका और रूस/चीन मुख्यतः इन्हीं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए इन देशों में जो झगड़ा दिखाई देता है, वह वास्तविक नहीं है। यदि शंकर के शब्दों में कहना हो तो यह माया है। मूलतः दोनों भौतिकवादी दर्शन से परिचालित हैं। २००३ में मैं चैक गण-राज्य की राजधानी प्राग में तिब्बत पर एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए गया था। उसमें चैक गणराज्य के पूर्व राष्ट्रपति श्री वाखलाव हाबेल ने एक मार्मिक बात कही थी। उन्होंने कहा, चैक ने तो साम्यवाद और पूँजीवाद दोनों को देख लिया है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों की जीवन-दृष्टि भौतिकवादी है।

समग्र मानवीय विकास के लिए जो भी व्यवस्था स्थापित की जाए, उसमें जीवन दृष्टि का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारत में भी भौतिकवादी दर्शन के समर्थक थे और हैं। लोकायत और सांख्य इसी श्रेणी में आता है। लेकिन ये दर्शन भारतीय जीवन दृष्टि की मुख्य धारा नहीं बन सके। भारतीय जीवन दृष्टि में भौतिकवाद का नकार नहीं है, बल्कि उसका संतुलन है। आज जब भौतिकवादी जीवन दृष्टि और उस पर आधारित केन्द्रीयकृत शासन व्यवस्था से असंतोष और दुःख बढ़ता जा रहा है, तो क्या भारत कोई वैकल्पिक व्यवस्था, जो भारतीय जीवन दृष्टि, जिसे एशिया की सनातन जीवन दृष्टि भी कहा जा सकता है, पर आधारित हो, प्रस्तुत कर सकता है? मुझे लगता है राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ इसी के उत्तर की तलाश में है और भारत के पड़ोस में तिब्बत भी इसी के लिए संघर्ष कर रहा है। बल्कि उसका संघर्ष तो और भी गहरा है क्योंकि वह आत्मबल का पशुबल से भी संघर्ष है। तिब्बत को, भौतिकवादी जीवन दृष्टि को ही मुक्ति घोषित करने वाले चीन ने दबोच लिया हैं। निर्वासित तिब्बती सरकार के प्रधानमंत्री प्रोफेसर सामदोंग रिम्पोछे ने ठीक ही कहा है कि तिब्बत का संघर्ष मूलतः किसी भूखण्ड के लिए संघर्ष

नहीं है, बल्कि यह एक जीवन दृष्टि के अस्तित्व का संघर्ष है। इसीलिए राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लिए भी तिब्बत का प्रश्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण हो जाता है और यही तर्क इस पुस्तक के लेखन के लिए पर्याप्त है।

तब एक प्रश्न यह भी उठा कि पुस्तक का नाम 'श्री गुरुजी और तिब्बत' के स्थान पर 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और तिब्बत' क्यों न रखा जाए, क्योंकि विषय मुख्य तौर पर संघ को केन्द्र में रखकर ही निर्धारित किया गया है। पहले मैं भी इसी तर्क के आधार पर दुविधा में था, लेकिन भारत-तिब्बत सहयोग मंच में डा. विवेक कुमार और डा. सुदेश गर्ग का तर्क था कि श्री गुरुजी भी तो संघ के केन्द्र में ही हैं। इसके बाद पुस्तक के नाम को लेकर चर्चा समाप्त भयी।

इस पुस्तक की एक सीमा भी है। इसमें केवल हिन्दी और अंग्रेजी भाषा के प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों का प्रयोग किया गया है। तिब्बत समस्या को लेकर हिन्दी भाषा में कोई स्तरीय व प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा गया हो, ऐसा मेरे ध्यान में नहीं है। यह मेरे अल्पज्ञान के कारण भी हो सकता है। इसलिए ज्यादा निर्भरता अंग्रेजी स्रोतों पर ही रही है। तिब्बती (भोटी) और चीनी भाषा के स्रोतों का भी उपयोग होती तो अध्ययन और भी गहरा और प्रमाणिक हो सकता था। दुर्भाग्य से मेरे पास इतना समय नहीं था कि मैं इन दोनों भाषाओं के जानकारों से संपर्क करके, इन भाषाओं के स्रोतों का इस्तेमाल कर सकता। इन दोनों भाषाओं के जानकार धर्मशाला में सहजता से मिल जाते हैं। जहां तक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से संबंधित सामग्री का सवाल है, मैने मुख्य रूप से अभी हाल ही में प्रकाशित 'श्री गुरुजी समग्र' के बारह खंडों का प्रयोग किया है। मुझे लगता है यदि संबंधित काल खण्ड के समाचार पत्रों व पत्रिकाओं को उलटा पुलटा जाए तो कुछ और सामग्री भी हाथ लग सकती है। लेकिन एक बार फिर इस उलटने पुलटने के लिए समय और साधन दोनों ही बाधा बने।

इस प्रकल्प में मैने हिमाचल रिसर्च इन्स्टीच्यूट चकमोह के पुस्तकालय और लायब्रेरी ऑफ तिब्बतन वर्क्स एंड आर्काइब्ज धर्मशाला से सहायता ली

है। लायब्रेरी ऑफ तिब्बतन वर्क्स एंड आर्काइब्ज तो शायद मध्य एशिया, विशेषकर तिब्बत पर अध्ययन करने वालों के लिए सर्वोत्तम शरणस्थली है। हिमाचल रिसर्च इन्स्टीच्यूट के पुस्तकालय में श्री तिब्बत से संबंधित पुस्तकों का अच्छा खासा भंडार है। भारत तिब्बत सहयोग मंच से संबंधित कागजात इस पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से संबंधित दस्तावेजों एवं पुस्तकों को 'उलटने पुलटने' के लिए दिल्ली में केशव कुंज स्थित केशव अभिलेखागार सर्वोत्तम है। इन सभी पुस्तकालयों का लाभ मैंने उठाया है।

पुस्तक लिखने की प्रेरणा, उत्साह तथा आदेश तीनों ही श्री इन्द्रेश कुमार जी से प्राप्त हुआ। उन्हीं की प्रेरणा से मैं तिब्बत आंदोलन से जुड़ा हूँऔर प्रस्तुत ग्रन्थ की पांडुलिपि को विकास के विविध चरणों में उन्होंने अनेक बार पढ़ा है और अपने बहुमूल्य सुझाव दिए हैंऔर उन सुझावों पर लम्बी चर्चाएं हुई हैं। इसलिए यह कहा जा सकता हैकि इस ग्रन्थ के अनेक निष्कर्ष जितने मेरे हैं उतने ही उनके भी हैं। श्री इन्द्रेश कुमार जी ने मुझे इस पथ पर आगे बढ़ाया है और उन्हीं की प्रेरणा से मैंने तिब्बत को अपने अध्ययन का विषय बनाया। मुझे लगता है यदि वे मुझे इस क्षेत्र में न ले आते तो मैं साम्यवाद के एक ऐसे चेहरे को न देख पाता जो बास्तव में विस्तारवादी और साम्राज्यवादी चेहरा है, जिसे तिब्बत पिछले पाँच दशकों से ढो रहा है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्य और साहित्य प्रकाशन प्रमुख श्री श्रीकांत जोशी जी ने मुझे इस प्रकल्प में प्रत्येक ढंग से प्रोत्साहित किया। वे स्वयं दो दशकों से भी ज्यादा पूर्वोत्तर हिमालय क्षेत्रों में संघ के कार्य हेतु साधक तपस्वी की तरह विचरते रहे हैं। इसलिए तिब्बतियों की फटी विवाईयों से रिसते खून के दर्द को उनसे ज्यादा कौन समझ सकता है। इस प्रकल्प में उनका आर्शीवाद मेरा पथ प्रदर्शक रहा है। संघ के सरसंघचालक माननीय सुदर्शन जी ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिख कर इसकी प्रामाणिकता और इसके भीतर की वेदना को दस्तावेजी रूप दे दिया है। वेदना का दस्तावेजीकरण एक बारगी चौंकाता है। परन्तु वह आने वाली पीढ़ियों को

अन्याय से लड़ने के लिए ऊर्जावान भी करता रहता है। उनकी यह भूमिका ही इस मार्ग में मेरा संबल है। हिमालय परिवार, जिसका एक अंग भारत-तिब्बत सहयोग मंच भी है, तिब्बत से जुड़े प्रश्नों को लेकर आंदोलित है, इससे यह भी आशा बंधती है कि देर सवेर में इस प्रश्न पर जन ज्वार उमड़ेगा।

अनेक विद्वानों से, इस ग्रन्थ में उठाये गये मुद्दों को लेकर मेरी चर्चा होती रही है। महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय के कुलपति डा. मोहन लाल छीपा, जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय के डा. आनन्द कुमार, विश्वबौद्ध सांस्कृतिक प्रतिष्ठान के अध्यक्ष श्री मोहनधर दीवान, विश्व हिन्दू परिषद के संयुक्त महामंत्री प्रो. चम्पत राय, पंजाब विश्वविद्यालय के डा. जय नारायण शर्मा, पंजाबी विश्वविद्यालय के पूर्व प्रति कुलपति डा. रवीन्द्र नाथ पाल, श्री घनश्याम दास मानिकटाहला के नाम उनमें उल्लेखनीय हैं। मैं इन सभी का हृदय से आभारी हूँ। हिन्दुस्थान समाचार के श्री आशुतोष भट्नागर जी, श्री अशोक चौरसिया जी (संपादक नेपाली भाषा सेवा), श्री समन्वय नन्द, श्री अरविन्द गर्ग, अमृतांशु मिश्र, श्री धर्मानन्द सापकोटा, डिल्लीराम ने इस कार्य में अनेक प्रकार से सहायता की है। कुमारी अनिता गौतम और आरती शर्मा के सहयोग के बिना तो यह किताब समय पर पूरी हो ही नहीं सकती थी। लेकिन उनको धन्यवाद करना उनको ही छोटा करना होगा इसलिए इससे बचता हूँ। सुश्री सुनील मनोचा जी, बिहारी लाल सिंहल जी, अमृत लाल शर्मा जी, महेश चड्डा जी, पंकज गोयल जी, बृज भूषण त्यागी जी, सतीश गुप्ता, सभी ने मेरा इस प्रकल्प में अनेक प्रकार से सहयोग किया है, अतः उनका आभारी हूँ।

अन्त में सिद्ध शिरोमणि विनयश्री का एक पद् उद्धृत कर रहा हूँ।

राहुणा चन्द्रः ग्रस्तः यावत्, गुरु संवेदनं हला सखि तावत्।। १
भणइ विनयश्रीः अनन्यं विज्ञानं, रवि-संयोगेन बध्नाति ग्रहणम्।
चंद्रः ग्रस्तः अन्यद् न दृश्यते, सकलं अपि एक-रूपं प्रतिभास्ते।। २
सर्वं खलु ग्रस्तं अर्ध-रात्रौ, नहिं तत्रे इन्द्रिय-विषय-व्यक्तिः।
कीदृशं आत्मनः ग्रहणं भूतं, सर्वं ग्रासेन अस्तमनं गतम्।। ३

बिहार–बंगाल के नालंदा , विक्रमशिला और जगतल्ला के महान् विहारों के तुर्कों द्वारा ध्वस्त किये जाने पर भारतीय संघराज शाक्यश्रीभद्र के साथ शरणार्थियों की जो मण्डली तिब्बत पहुँची थी, उसमें शाक्यश्रीभद्र के शिष्य तथा पूर्वी मैथिली के कवि विनयश्री भी थे। विनयश्री तिब्बत के सस्क्य बिहार में बहुत समय तक रहे। शायद वह फिर लौट कर भारत नहीं आये।६ इसे इतिहास का क्रूर संयोग ही कहना होगा कि तुर्कों के आक्रमणों के कारण विनयश्री को भारत से भाग कर तिब्बत जाना पड़ा। सैंकड़ों साल बाद तिब्बत पर चीनी आक्रमण के कारण तिब्बत के विद्वानों को अपने देश से भारत आना पड़ा। विनयश्री ने कहा था चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया है। सब जगह एक जैसा दिखाई दे रहा है। स्व का लोप हो गया है। उसे राहु निगल गया है । क्या विनयश्री भविष्य वाणी कर रहे थे? चीन रूपी राहु ने तिब्बत रूपी चन्द्रमा को निगल लिया है। तिब्बत भी चीनमय हो जाये–इसके प्रयास हो रहे हैं। परन्तु ग्रहण क्या सदा ही रहता है।चन्द्रमा पर पड़ी हुई छाया अंततः हटती है। विज्ञानवेत्ता कहते हैं राहु यथार्थ में नहीं है। वह कल्पना मात्र है। चीन के महाशक्ति होने के राहु की भी एक दिन पोल खुलेगी और तिब्बत स्वतंत्र होगा। श्री गुरु जी की जन्म–शताब्दी के अवसर पर इससे बड़ी आशा और क्या हो सकती है?

डा. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री
राष्ट्रीय संयोजक,
भारत–तिब्बत सहयोग मंच

निदेशक
हिमाचल रिसर्च इन्स्टीच्यूट
चकमोह (हमीरपुर) हि. प्र.

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

तिब्बत और भारत–इतिहास की पगडंडियाँ

तिब्बत के पड़ोस में पूर्वी तुर्किस्तान है। तुर्किस्तान में कहानी कहने का एक खास अंदाज है। 'पुरानी बात है, पर इतनी पुरानी भी नहीं।' तिब्बत और भारत के रिश्तों की शुरूआत भी यहीं से होती है। पुरानी घटना है, पर इतनी पुरानी भी नहीं। हिमालय पर्वत से नीचे, शिवालिक की श्रृंखलाओं से भी नीचे 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' महाभारत का युद्ध लड़ा जा रहा था। देश के दूरस्थ प्रदेशों से राजा महाराजा अपनी–अपनी सेना लेकर आए हुए थे। कोई कौरव पक्ष में खड़ा था और कोई पांडव पक्ष में सन्नद्ध था। अट्ठारह दिन युद्ध चलता रहा। मारक अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग हुआ। ब्रह्मास्त्र छोड़े गए और उनकी काट करने वाले अस्त्र भी। मगर धीरे–धीरे युद्ध की स्थिति स्पष्ट होने लगी थी। कौरव युद्ध हार रहे थे। तब कौरव सेना का एक सेना नायक कुरुक्षेत्र की रणभूमि को छोड़कर हिमालय की ओर प्रस्थान करने लगा। वह विश्व की छत तिब्बत की ओर जा रहा था। उसे शायद इसका ज्ञान भी न हो, शायद हो भी। त्रिविष्टप उसका लक्ष्य था या नहीं कौन जाने? लेकिन जिस ओर वह बढ़ रहा था वह रास्ता निश्चय ही तिब्बत की ओर जाता था।

उधर तिब्बत में कलह–कलेश मचा हुआ था। "अनंतकाल से उस समय तक तिब्बत में कोई संगठित शासन करने वाला नहीं रहने के कारण

तिब्बती सर्वदा आपस में संघर्ष करते थे। इस व्यवधान का अनुभव कर आपस में मिलजुल कर एक राज्य बनाने के प्रयास में लगे हुए थे। परन्तु आंतरिक मतभेद के कारण स्थानीय राजाओं में से किसी एक को राजा बनाना असंभव था। अतः वे एक योग्य राजा की खोज में लगे थे। उसी समय महाराजा ग्रीवासनराज्ञः तिब्बत पहुँचे । तिब्बतियों ने उनकी स्वभाविक सुन्दरता, ज्योतिषियों ने उनके शुभ लक्षणों को देखा। देखते ही वे उनकी ओर ध्यानाकृष्ट हो गये। तिब्बतियों ने उनसे 'किधर से पधारे हैं' आदि कुशल-क्षेम पूछे । वह तिब्बती नहीं जानने के कारण उपयुक्त प्रश्नोत्तर नहीं दे सके, परन्तु उन्होंने प्रश्न का अनुमान कर भारत की ओर संकेत किया। उनके संकेत से लोगों ने समझा कि हो न हो भगवान ने हमारे कल्याण के लिए विशेष रूप से इन्हें यहाँ भेजा है, क्योंकि बोन् धर्म के अनुसार 'आकाश ही भगवान ' अर्थात् आकाश में ही भगवान निवास करता है तथा आकाश सर्वोच्च पवित्र स्थान माना जाता है। फलतः बारह बुद्धिजीवियों ने उन्हें अपना राजा बनाने का निश्चय किया। उन लोगों ने तुरन्त लकड़ी का एक सिंहासन बना कर उन्हें बैठाया तथा कंधे लगा कर मध्य तिब्बत की ओर प्रस्थान किया । बुद्धिजीवियों के कंधे पर आसन पाने के कारण उनका नाम ग्रीवासनराज्ञः पड़ा।''[१] ऐसा कहा जाता है कि ये ग्रीवासनराज्ञः ही महाराजा रूपति थे, जिनका उल्लेख तिब्बत के साहित्य और इतिहास में आता है। यही रूपति तिब्बत में प्रथम महाराजा ग्ञङ-ख्रि-ब्चन-पो अर्थात् ढिचंपो के नाम से प्रसिद्ध हुए। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के सौ साल बाद पंडित शंकरपति ने एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने राजा रूपति के तिब्बत में पलायन का जिक्र किया था। विद्वानों का एक समूह वर्तमान तिब्बतियों को इसी राजा रूपति की संतान मानता है।

महाभारत युद्ध की अनेक कथाएँ बॉन संप्रदाय के इतिहास में मिलती हैं और बहुत से विद्वान् इसका उद्गम ढिचंपो से ही मानते हैं। कुछ विद्वान् उन्हें राजा उदयन मानते है और दूसरे मिथिला नरेश राजा प्रसेन्जित के वंशज भी मानते हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत और तिब्बत के

संबंध वहाँ बुद्ध मत के प्रवेश से ही प्रारंभ नहीं होते बल्कि उससे भी हजारों वर्ष पुराने हैं। ढिचंपो यदि महाभारत काल के ठहरते हैं तो यह घटना आज से पांच छह हजार साल पुरानी होनी चाहिए। भारत और तिब्बत के रिश्ते सहस्राब्दियों पुराने हैं। महात्मा बुद्ध के वचनों का तिब्बत में प्रचार प्रसार होने से यह रिश्ते और मजबूत हुए परन्तु तिब्बत के पठार पर रहने वाले लोगों का भारतीयों से रिश्ता उससे भी कहीं ज्यादा पुराना है। तिब्बत का पौराणिक इतिहास उतना ही पुराना है जितना भारत का। रूपति की कथा के अतिरिक्त एक दूसरी कथा भी तिब्बत में प्रचलित है। उसके अनुसार बंदर और राक्षस के संयोग से उत्पन्न संतान ही तिब्बती जाति का उद्गम है। परंतु पौराणिक कथाओं के अनुसार यह बंदर अवलोकितेश्वर का अवतार माना गया है। हिन्दू परंपरा में अवलोकितेश्वर को विष्णु का अवतार भी माना जाता है।

स्वामी दयानन्द तो यह मानते हैं कि सृष्टि का प्रारम्भ ही तिब्बत में हुआ और वहीं से आर्य लोग भारत में आए। सत्यार्थ प्रकाश में इस प्रकार का प्रश्नोत्तर है।

प्रश्न–मनुष्यों की आदि सृष्टि किस स्थल में हुई?

उत्तर–त्रिविष्टप अर्थात् जिसको तिब्बत कहते हैं।

आगे भारत के बारे में लिखा गया है कि "आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल के पश्चात तिब्बत से सीधे इस देश में आकर बसे थे"[२] कुछ पौराणिक ग्रन्थों में देवराज इन्द्र के राज्य को भी तिब्बत कहा गया है। "वर्तमान तिब्बत क्षेत्र के लिए प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में त्रिविष्टिप शब्द का प्रयोग किया गया है। पौराणिक ग्रन्थों में उपलब्ध संदर्भों के अनुसार त्रिविष्टिप को इन्द्र की भूमि माना जाता था जिसका शासक स्वयं सब देवताओं का शक्तिशाली राजा इन्द्र था। त्रिविष्टपपति अर्थात् राजा के रूप में इन्द्र के पुत्र जयन्त की चर्चा भी भारतीय साहित्य में अनेक स्थानों पर है। ऐसी मान्यता है कि त्रिविष्टप से ही बिगड़ते–बिगड़ते तिब्बत शब्द बना है। अतः तिब्बत शब्द को त्रिविष्टप का अपभ्रंश माना गया है। उपर्युक्त ग्रन्थों में त्रिविष्टप को तत्कालीन सर्वोच्च

सभ्यता एवं समृद्धि का द्योतक कहा गया है। हिन्दी तथा अन्य भाषाओं की अनेकों रचनाओं में स्वर्ग की भौगोलिक स्थिति वही है जहाँ आज तिब्बत स्थित है। भारतीय पौराणिक साहित्य में उल्लेख उपलब्ध है कि हिमालय को पार करके जो देश आता है वही स्वर्ग है। पौराणिक भाषाओं में यह भी कहा गया है कि जब–जब इन्द्र के राज्य त्रिविष्टप (अर्थात् तिब्बत) पर बाहरी आक्रमण होते थे तो उत्तर भारत से अयोध्या के राजा हमेशा उनकी सहायतार्थ जाते थे और उनको लाने के लिए इन्द्र का रथ आया करता था जिसके सारथी मातलि थे। अतएव निष्कर्षतः यह माना जा सकता है कि भारत एवं तिब्बत के मध्य राजनैतिक स्तर पर सम्बन्ध पुरातन काल से चला आ रहा था।[३] महाभारत में अनेक स्थानों पर हिमालय की किरात जाति का वर्णन आता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि तिब्बत के लोग ही किरात थे। ''महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में तिब्बत से भी लोगों को आमंत्रित किया गया था।.........महाभारत के वनपर्व में लिखा हुआ है कि कुरुक्षेत्र में निवास करना त्रिविष्टप में निवास करने के तुल्य है।''[४] तिब्बत में प्राचीन काल से ही रामायण का भी प्रचलन है। यह ठीक है कि तिब्बती रामायण में वाल्मीकि की रामायण से थोड़ा कथा भेद है, लेकिन यह कथा भेद थाई रामायण, कक रामायण, रामचरितमानस और नेपाली रामायण में भी देखा जा सकता है। वैसे भी राम विष्णु के अवतार माने जाते हैं और कालान्तर में जब तिब्बत में बुद्ध वचनों का प्रसार हुआ तब तक महात्मा बुद्ध भी विष्णु के अवतार स्वीकार कर लिए गए थे। तिब्बती रामायण का अध्ययन करने पर एक बात सामने आती है कि तिब्बतियों ने राम कथा का तिब्बतीकरण कर लिया है।[५]

तिब्बत में बुद्ध मत का प्रवेश सातवीं शताब्दी में भारत और नेपाल के माध्यम से हुआ। आचार्य शांति रक्षित तिब्बत में जाने वाले प्रथम भारतीय विद्वान् थे जिन्होंने वहाँ बुद्ध वचनों का प्रसार किया लेकिन आचार्य वहाँ के मनोविज्ञान से शायद तालमेल नहीं बिठा सके इसलिए उन्होंने पद्मसंभव के नाम की संस्तुति की। ऐसा भी कहा जाता है कि आचार्य शांतिरक्षित और

आचार्य पद्मसंभव भाई ही थे। कुछ स्रोतों में ''पदम्सम्भव को शांतिरक्षित का बहनोई भी माना जाता है। शांतिरक्षित की बहन राजकुमारी मन्दरवा पद्मसम्भव की पत्नी थी। वह हिमाचल प्रदेश में मण्डी जिले में रिवालसर के राजा अरशधारा की बेटी थी। रिवालसर में एक झील में तंत्राचार्य एक कमल पुष्प पर अवतरित हुए थे, इसलिए पद्मसम्भव के नाम से विख्यात हुए।''[६]

यही आचार्य पद्मसंभव बाद में भोट देश में गुरु रिंपोछे के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने वज्रभैरव, कालभैरव, डाकिनी, काली, दुर्गा और तारा के अनुयायियों से लम्बे शास्त्रार्थ किये। बुद्ध वचनों और इन देवी देवताओं के श्रद्धालुओं की आस्थाओं में सामंजस्य बिठाया। इस प्रकार तिब्बत में बुद्ध मत की जड़ें आठवीं शताब्दी में ही जम पाईं और इसका बहुत सा श्रेय आचार्य पद्मसंभव की समन्वयवादी नीति को दिया जा सकता है।

तिब्बती साहित्य और लिपि का भारत से गहरा संबंध है। तिब्बत नरेश सोंगछेन गाम्पो (६२९-४९) ने अपने अमात्य थोनमी संभोट को भारत में प्रचलित लिपि का अध्ययन करने के लिए कुछ विद्यार्थियों सहित भारत भेजा। संभोट ने भारत में प्रचलित देवनागरी लिपि के आधार पर तिब्बत के लिए लिपि का निर्माण किया। थोनमी संभोट के नाम पर ही तिब्बती भाषा को भोटी भाषा के नाम से जाना गया।

हिन्दुओं, बौद्धों, जैन और सिक्खों के लिए एक समान से पावन तीर्थ स्थान कैलाश मानसरोवर तिब्बत में ही स्थित है। कैलाश पर भगवान शंकर का निवास माना जाता है और मानसरोवर भारत की चार पावनतम नदियों का उद्गम स्रोत है। तिब्बती पौराणिक साहित्य के अनुसार सिंहमुख से सिंधु, हस्ती मुख से सतलुज, मयूर मुख से गंगा और अश्व मुख से ब्रह्मपुत्र निकलती है। पश्चिमी तिब्बत में स्थित मानसरोवर हिन्दू और बौद्धों दोनों के लिए मोक्ष मार्ग है। तिब्बती कैलाश पुराण में मानसरोवर के बारे में लिखा गया है, '' एक बड़ी भारी मछली ने भारत से जाकर सरोवर में ऐसे प्रवेश किया जैसे कोई बच्चा अपनी माँ की गोद में पड़ जाता है। इसलिए यह 'छो मफम' (सरोवर-माता

की गोद) कहलाने लगा। इसे तिब्बती भाषा में 'छो मवङ' (सर–अजेय) भी कहते हैं। छो मवङ या मानसरोवर के चारों ओर वृक्षों की सात पंक्तियाँ हैं। सरोवर के मध्य में एक महान् भर्वन है जिसमें नागों के राजा निवास करते हैं। यह सरोवर समतल नहीं है, धनुषाकार है। मध्यभाग में ऊँचा है। इस ऊँचे स्थान पर एक बड़ा वृक्ष है, जिसके बड़े–बड़े फल सरोवर में 'जम्' शब्द के साथ गिरते हैं। इसीलिए आसपास का भूभाग जम्मूलिङ या हिन्दू पुराणों में वर्णित जंबूद्वीप कहलाता है। सरोवर में गिरे हुए कुछ फलों को नाग खा डालते हैं और बचे हुए फल सोना बनकर सरोवर के तल में चले जाते हैं। इसके दक्षिण भाग में ठुगोल्हो के पास सोना, चांदी, मूंगा, पिरोजा और मोती–इन पाँचों से युक्त पँच जल हैं; पूर्वी किनारे पर सेरलुङ के पास सोना, चांदी, पिरोजा, मूंगा और लोहे की पँचरेत है, जो चेमानेङ के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण तट पर पाँच प्रकार की धूप है, पश्चिमी किनारे पर पाँच प्रकार के शंख हैं, और उत्तरी किनारे पर पाँच प्रकार के पत्थर हैं।''[७]

भारत और तिब्बत के संबंध कितने गहरे हैं इसका अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि तिब्बती इतिहास में किसी भी नरेश की सबसे बड़ी उपलब्धि यही मानी जाती थी कि उसने विद्याध्ययन के लिए कितने लोगों को भारत भेजा है या फिर कितने भारतीय पंडितों को तिब्बत में निमंत्रित किया है।

तिब्बत और भारत दोनों भूमि खंडों में दर्शन शास्त्र की मान्यताएँ एक समान हैं । देवी–देवताओं की परिकल्पना एक जैसी है। जिन्हें भारत में शिव कहा जाता है तिब्बत में वही वांगचुक के नाम से पूजे जाते हैं। भारत की शाक्त साधना की तारा देवी तिब्बत की डोलमा है और काली माँ तिब्बत में पालदेन ल्हामो के नाम से पहचानी जाती है। सरस्वती मंजूश्री है। महाकाल की पूजा तो तिब्बत में सर्वत्र ही होती है। रामायण अनेक रूपों में तिब्बत में प्रचलित है। वहाँ की अनेक लोककथाओं और लोकगीतों का अधार राम कथा ही है। शकपा के अनुसार'' चीनी साम्यवादी आधिपत्य से पहले तिब्बत में हिन्दू

धर्मावलंबी भी रहते थे क्योंकि वहाँ पूजा व विचारों की स्वतंत्रता थी।''[८] भारतीय साहित्य और साधना में जिन चौरासी सिद्धों की बार-बार चर्चा होती है उनमें से अनेक तिब्बत के रहने वाले थे।

तिब्बतियों की दृष्टि में भारत आर्य भूमि है और चीन काला चीन है। काला तिब्बतियों की दृष्टि में नकारात्मक शब्द है। तिब्बत भारत की जागृत उत्तरी सीमा थी। श्री गुरुजी ने तिब्बत की इसी रूप में व्याख्या की है। ''हमारे पूर्वजों ने हिमालय के उत्तरांचल में हमारी तीर्थ यात्राओं के लिए अनेक स्थानों की स्थापना कर उन भू-भागों को जागृत सीमा का स्वरूप प्रदान किया था। तिब्बत या त्रिविष्टप जिसे आज हमारे नेता चीन का तिब्बतीय प्रदेश कहते हैं, देवताओं का स्थान था और कैलाश पर तो परमेश्वर का निवास है। मानसरोवर तीर्थ यात्रा के लिए एक अन्य पवित्र स्थान था जो हमारी गंगा, सिन्धु और ब्रह्मपुत्र जैसी पवित्र नदियों का उद्गम माना जाता है।''[९]

शावयपा सोनम के अनुसार, ''यद्यपि भगवान बुद्ध के चरण कमल प्रत्यक्ष तो हिमाच्छादित तिब्बत पर नहीं पड़े तथापि अवलोकितेश्वर ने तिब्बतवासियों को ज्ञान व निर्वाण का मार्ग दिखलाया। धर्म की रक्षा करने वाले तिब्बत नरेश सोंगछेन गाम्पो एवं उसके परवर्ती धर्म राजाओं ने धर्म का प्रसार किया।''[१०] चीन का दावा है कि तिब्बत के साथ उसके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संबंध हैं और दोनों में गहरी आत्मीयता है। उसका यह भी मानना है कि भारत का तिब्बत के साथ कोई रिश्ता नहीं है। भारत-तिब्बत संबंधों की चर्चा दरअसल भारतीय विस्तारवादी मानसिकता से उभरी है। परंतु इन सबके बावजूद चीन जब तिब्बत की बात करता है तो उस पर अपना मालिकाना हक जताता है। इसी से सिद्ध होता है कि तिब्बत और चीन दो अलग-अलग इकाइयाँ है। ''प्रारम्भ से ही देखा गया है कि तिब्बत समाज चीन की अपेक्षा भारत से अधिक सम्बध बनाए रखने का इच्छुक रहा है और चीन द्वारा तिब्बत पर अधिकार कर लेने पर दोनों के मध्य दूरी कुछ और विस्तृत ही हुई है। वह खाई इसीलिए पाटी नहीं जा सकती क्योंकि तिब्बत पर भारत का सांस्कृतिक

व भावनात्मक प्रभाव अत्यंत गहरा है, जिसे समाप्त करना बड़ा दुष्कर कार्य है। इसके रहते कभी भी तिब्बत चीन का नहीं हो सकता । जिस प्रकार अनेक विदेशी आक्रमण व आधिपत्य, भारत की आत्मा, उसके वासियों के चिंतन एवं दर्शन को नहीं दबा सके उसी प्रकार तिब्बत भौतिक रूप से भले ही चीनी शिकंजे में हो परंतु तिब्बतियों की संस्कृति, दर्शन, आध्यात्मिकता, धर्म व भावनाओं पर चीन कब्जा नहीं कर सका है।''[११]

भारतीय और तिब्बतियों का अनेक शताब्दियों से दोनों देशों में स्वतंत्र आवागमन होता था। तिब्बती तीर्थ यात्रा के लिए अबाध रूप से भारत आते थेऔर भारतीय कैलाश मानसरोवर और अन्य अनेक तीर्थ स्थलों की यात्रा के लिए तिब्बत जाते थे। ल्हासा के तीन विश्व प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों सेरा, द्रेपुंग और गंदेन में पढ़ने के लिए सैकड़ों भारतीय विद्यार्थी तो १९५० तक भी जाते रहे हैं। नेपाल के बाद शायद तिब्बत ही एक मात्र ऐसा देश है, जहाँ के नागरिक भारतीय सेना में भर्ती हो सकते हैं। हाल ही के कारगिल युद्ध में भारत माता की रक्षा के लिए भारतीयों के साथ-साथ तिब्बती सैनिकों ने भी अपना खून बहाया है। भारत माता के चरणों में दोनों का रक्त मिलकर एक हो गयाऔर यही भारत तिब्बत के सनातन संबंधों का वर्तमान प्रमाण है।



द्वितीय अध्याय

तिब्बत मुक्ति : चीन का आक्रमण

तिब्बत का ऋण – सातवीं शताब्दी में यी चिंग जब नालंदा विश्वविद्यालय से बौद्ध दर्शन पढ़कर वापस चीन गये तो उन्होंने वहाँ जा कर लिखा– क्या भारत के पाँचों भागों में से कोई भी ऐसा है जो चीन की प्रशंसा नहीं करता ?[१] सातवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक चीन की पीली नदी और भारत की गंगा में न जाने कितना पानी बह गया। कितने साम्राज्य आये और कितने चले गये। बीसवीं शताब्दी के मध्य काल में जब भारत और चीन दोनों इतिहास के एक ही मोड़ पर खड़े दिखाई दिये तो शायद यी चिंग का यही प्रश्न हवा में फिर तैर रहा था, लेकिन इस बार इस प्रश्न की रचना बदली हुई थी। अब प्रश्न था–भारत में कौन है जो चीन की प्रशंसा करता है ? तब केवल एक ही व्यक्ति का हाथ दिखाई दिया और वह था भारत के प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू का। लेकिन यही हाथ सबसे महत्वपूर्ण था। अलबत्ता नीचे जाजम बिछा कर बैठे कुछ लोग नेहरू के इस उठे हुए हाथ पर तालियां पीट रहे थे। ये भारत के कम्युनिस्ट थे। इसने तिब्बत का इतिहास बदल दिया। हिमालय का इतिहास बदल दिया। हिमालय के भीतर के दर्रों को दर्रा खैबर में बदल दिया।

माओ चीन में अपनी लाल सेना के साथ पर्वतों में छिपते हुए "लांग

मार्च'' पर थे। उनकी सेना अत्यंत विपन्नावस्था में तिब्बती क्षेत्र में पहुँची तो तिब्बतियों ने उनकी हर प्रकार से सहायता भी की और रसद भी मुहैया करवाई। तब माओ ने भावुक हो कर कहा था–हम पर यही एक (तिब्बतियों का) विदेशी ऋण है जो हमें उतारना है।[२] आगे जा कर उन्होंने तिब्बत का यह ऋण किस प्रकार उतारा, यह अब इतिहास है।

माओ की सफलता : भारतीय कम्युनिस्टों में उत्साह–माओ की जन मुक्ति सेना ने एक लंबे गृह युद्ध के पश्चात् १९४९ में चीन की सत्ता पर कब्जा कर लिया। माओ के इस मुक्ति .युद्ध में वैचारिक भूमिका में महात्मा बुद्ध नहीं थे बल्कि कार्ल मार्क्स थे । वही कार्ल मार्क्स जिन्होंने कहा था कि धर्म अफीम होता है । चीन में माओ के नेतृत्व में कार्ल मार्क्स ने एक प्रकार से बुद्ध वचनों को परास्त किया था। कुओ मिन तांग की सरकार के जगह–जगह पाँव उखड़ रहे थे। देश में अनेक स्थानों पर चीनी सेना और माओ की कम्युनिस्ट पार्टी के बीच युद्ध चल रहा था। च्यांग काइ शेक ने अपना मुख्यालय ताइवान में स्थानांतरित कर लिया था। चीन को लेकर विश्व भर में संभ्रम की स्थिति बनी हुई थी। १ अक्टूबर, १९४९ को माओ ने चीन में जनवादी चीनी गणतंत्र की घोषणा कर दी। लेकिन दुनिया के अधिकांश देशों ने उसे मान्यता नहीं दी थी। ऐसी स्थिति में भारत ने ३० दिसंबर, १९४९ को माओ के जनवादी गण तंत्र को वैधानिक मान्यता प्रदान कर दी। भारत शायद माओ के गणतंत्र को मान्यता प्रदान करने वाले चन्द गिने चुने देशों में से था। लेकिन भारत सरकार द्वारा दी गयी इस मान्यता से जनवादी चीनी गणतंत्र का मनोबल बढ़ा और अन्य अनेक देशों ने भी मान्यता देना शुरु कर दिया। बीजिंग के थ्यानमेन चौक में माओ ने घोषणा की–चीन अब उठ खड़ा हुआ है।[३] माओ की इस घोषणा से बहुत अरसा पहले स्वामी विवेकानन्द कह चुके थे कि चीन एक सोया हुआ राक्षस है। उसे सोया ही रहने दो। यदि वह उठ खड़ा हुआ तो सारी दुनिया के लिए खतरा पैदा हो जाएगा।

लेकिन भारत की कम्युनिस्ट पार्टी शायद विवेकानन्द के साथ नहीं थी।

उस ने माओ द्वारा चीन में सत्ता संभलने से पूर्व ही उसे अपना मसीहा मान लिया था और उसके रास्ते को अपना कर भारत की सत्ता को उखाड़ फेंकने का संकल्प भी दोहरा दिया था। फरवरी १९४८ में कोलकाता में एशियाई कम्युनिस्ट कांग्रेस का सम्मेलन हुआ जिसमें दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में हिंसक जनांदोलन और गृह युद्ध प्रारंभ करने का निर्णय लिया गया। जाहिर है भारत में यह शुरुआत कम्युनिस्टों को ही करनी थी।

तेलंगाना में सशस्त्र क्रांति में संलग्न आंध्र प्रदेश के कम्युनिस्टों की रणनीति के अनुसार तो "सी.पी.आई को भारत में माओ की रणनीति के आधार पर सत्ता पर कब्जा कर लेना चाहिये। भारतीय कम्युनिस्टों को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के रास्ते का ही अनुसरण करना होगा । ऐतिहासिक चीनी मुक्ति संघर्ष के नेता माओ ने नये लोकतंत्र का सिद्धांत सूत्रबद्ध किया है और वही उपनिवेशों और अर्ध उपनिवेशों के लिए अनुसरण योग्य है।"[४] ध्यान रहे कि कम्युनिस्टों की दृष्टि में स्वतंत्र भारत की सरकार सामंतवादी और अर्ध उपनिवेशवादी थी। सी.पी.आई के महासचिव बी.टी. रणदिवे ने चीनी जनगणतंत्र की स्थापना पर १ अक्तूबर १९४९ को माओ को लिखा–भारतीय जनता आपकी विजय से हर्ष विभोर है क्योंकि इससे उसे अपनी मुक्ति की आशा बँधती है।[५] जाहिर है कि भारत के कम्युनिस्ट चीन और माओ के माध्यम से सत्ता पर कब्जा जमाने के स्वप्न देख रहे थे और इसी राष्ट्रघाती रणनीति को वे लोक मुक्ति का नाम दे रहे थे।

कम्युनिस्टों की रीति–नीति और भारत में उनकी भावी कार्यप्रणाली के संकेत इसी काल खंड में मिलने शुरू हो गए थे। चीन ने जून १९५१ में तिब्बत के एक प्रतिनिधि मंडल के साथ बीजिंग में बंदूक की नोक पर सत्रह सूत्रीय तिब्बत–चीन संधि की थी। उसके तुरंत बाद इस तिब्बती प्रतिनिधि मंडल के कुछ सदस्य बरास्ता कोलकाता तिब्बत को जा रहे थे। उनके साथ तिब्बत के नए चीनी अधिपति झांग जिंगबू भी थे। जिंगबू एक जुलाई को दिल्ली पहुँचे और कुछ दिनों बाद कालेबुङ पहुंचे। भारतीय कम्युनिस्टों ने इस नए चीनी अधिपति

के स्वागत में तीस्ता सेतु से लेकर हिमालय होटल तक बारह किमी के रास्ते को तोरण द्वारों से सजा दिया और चीन के पक्ष में प्रशस्ति गान गाये। स्वागत करने वालों में तिब्बत के लोग भी थे, लेकिन वे चीनियों का स्वागत नहीं कर रहे थे जैसा कि बाद के स्वागत समारोह से सिद्ध हुआ। कालेबुङ से छपने वाले तिब्बत मिरर के सम्पादक तारचिन बाबू [६] ने अपने स्वागत भाषण में कहा– ''तिब्बत में एक कहावत है कि विश्व में सब कुछ निरंतर बदलता रहता है। उदाहरण के लिए आज प्रसन्नता है तो कल दुःख भी हो सकता है। परिवर्तन, चक्र की तरह घूमता रहता है। यह आज भी उतना ही सत्य है। (दीवार की ओर संकेत करते हुए) एक दिन पहले यहाँ च्यांग काई शेक का चित्र लगा हुआ था, लेकिन वह गायब हो गया है और उसका स्थान माओ ने ले लिया है। तिब्बत शताब्दियों से एक स्वतंत्र देश रहा है। लेकिन अब चीनी दावा करते हैं कि यह उसके अधीन है। लेकिन वक्त के साथ यह स्थिति भी बदल जाएगी। तिब्बत फिर एक बार चीनी नियंत्रण से मुक्त होकर अपनी मौलिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेगा।''[७] तारचिन बाबू का भाषण समाप्त होते ही तिब्बतियों ने उन्हें कंधे पर बिठा कर नाचना शुरू कर दिया। जहाँ एक ओर तिब्बत के लोग चीनी आधिपत्य का विरोध कर रहे थे वहीं भारतीय कम्युनिस्ट चीनियों के आने पर तोरण द्वार सजा रहे थे।

तिब्बत मुक्ति यानि तिब्बत की गुलामी – २ सितम्बर १९४९ को चीन की सिन्हुआ संवाद समिति ने एक संपादकीय में तिब्बत को लेकर चीन के इरादों की घोषणा कर दी। संपादकीय के अनुसार, ''तिब्बत क्षेत्र में से हान नागरिकों और कुओ मिन तांग सरकार के कर्मचारियों को निष्कासित कर दिया गया है। यह साम्राज्यवादी देशों ब्रिटेन, अमेरिका और उनकी अनुगामी नेहरू की भारत सरकार का षड्यंत्र है। कम्युनिस्ट विरोधी इस घटना के पीछे ब्रिटिश, अमेरिकी और भारतीय प्रतिक्रियावादियों का हाथ है, जिसे तिब्बत के स्थानीय अधिकारियों के साथ मिलकर रचा गया है। इसका उद्देश्य तिब्बती लोगों के मुक्ति अभियान को उस समय रोकने का प्रयास करना है, जब जन

मुक्ति सेना द्वारा सारे देश की मुक्ति स्पष्ट दिखाई दे रही है। यह तिब्बतियों की स्वतंत्रता और मुक्ति का हनन करते हुए उन्हें विदेशी साम्राज्यवादियों का उपनिवेशवादी गुलाम बनाये रखने का षड्यंत्र है। ब्रिटेन और भारत के प्रतिक्रियावादी तिब्बत को हड़पने के अपने फिजूल प्रयासों के चक्कर में इस तथ्य से भी इंकार कर रहे हैं कि तिब्बत चीनी क्षेत्र का हिस्सा है।.......... जन मुक्ति सेना संपूर्ण चीन को मुक्त कराने के लिए, जिसमें तिब्बत, सिंक्यांग, युन्नानद्वीप और ताइवान भी शामिल है, दृढ़ प्रतिज्ञ है।''[८] इसके पांच दिन बाद ही ७ सितम्बर को पीपुल्ज डेली ने 'चीनी लोग तिब्बत को मुक्त करवाने के लिए दृढ़ संकल्प हैं' नाम से संपादकीय प्रकाशित किया, जिसमें तिब्बती लोगों का आह्वान किया गया था कि वे आगे बढ़ रही जन मुक्ति सेना द्वारा तिब्बत की मुक्ति के लिए तैयार रहें और विदेशी साम्राज्यवादियों द्वारा लादा गया गुलामी का जुआ उतार फेंकें।[९]

१० सितम्बर, १९४९ को बीजिंग रेडियो से तिब्बत को मुक्त करवाने की घोषणा की गई। १ जनवरी, १९५० को बीजिंग रेडियो ने फिर घोषणा की–नये वर्ष में चीनी सेना की कार्य सूची में तिब्बत को ब्रिटिश व अमेरिकी साम्रज्यवाद से मुक्त करवाना प्राथमिकता पर है।[१०] जिस समय माओ ने तिब्बत पर कब्जा करने का संकल्प लिया था, उसके आस–पास ही चीन में भारत के राजदूत के. एम. पणिक्कर ने भारत की ओर से तिब्बत चीन को सौंप देने का संकल्प कर लिया लगता था। पणिक्कर चीन में च्यांग काई शेक के राज्य काल में भी भारत के राजदूत थे और माओ के राज्य में भी राजदूत के पद का निर्वाह कर रहे थे। शायद चीन को उस समय पणिक्कर से ज्यादा चीन समर्थक राजदूत नहीं मिल सकता था। पणिक्कर के ही शब्दों में,''पीकिंग की ओर प्रस्थान करने से पहले ही मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका था कि (तिब्बत में) ब्रिटिश नीति जारी नहीं रखनी होगी (जिसके अनुसार हमें यह विश्वास करने के लिए कहा गया था कि तिब्बत में भारत के विशेष राजनीतिक हित हैं) क्योंकि तिब्बत ही ऐसा क्षेत्र है जहाँ भारत और चीन के हित टकराते हैं।

मैं यह भी जानता था कि कोई भी चीन सरकार, चाहे वह कुओ मिन तांग की सरकार हो या कम्युनिस्टों की, तिब्बत पर अपने एकाधिकार को सर्वाधिक महत्व देती है।'' पणिक्कर ने तिब्बत में भारत के हित छोड़ने का निर्णय तो कर लिया था लेकिन ''उन्होंने (पणिक्कर) यह सोचा कि मैं ये अधिकार तिब्बत सरकार को नहीं बल्कि चीन सरकार को सौंपता हूँ।''[११]

तिब्बत पर उस समय किसी अन्य देश का राज्य नहीं था और न ही तिब्बत किसी दूसरे देश का गुलाम था। तिब्बत को मुक्त करवाने की माओ की इस घोषणा के दो निहितार्थ थे। एक तो तिब्बत की तथाकथित मुक्ति के बाद भारत के भीतर की वाममार्गी शक्तियों की सहायता से भारत मुक्ति आन्दोलन का श्री गणेश करना और द्वितीय, तिब्बत पर किसी न किसी प्रकार से कब्जा स्थापित करना। तिब्बत पर कब्जा करने की मंशा चीन की शताब्दियों पुरानी है लेकिन ऐसा करने के लिए उसे ऐतिहासिक अवसर १९४९–५० में प्राप्त हुआ था। माओ के नेतृत्व में अब जो नया चीन उभर रहा था वह केवल तिब्बत पर भौगोलिक रूप से ही कब्जा करना नहीं चाहता था बल्कि वह उसके धर्म और संस्कृति को भी समाप्त करना चाहता था, क्योंकि कार्ल मार्क्स के नए शिष्य माओ की दृष्टि में धर्म अफीम था और तिब्बत की संस्कृति प्रतिक्रियावादी और सामन्तवादी मूल्यों पर आधारित थी। वह तिब्बत में धर्म और सांस्कृतिक मूल्यों के स्थान पर नये आर्थिक मूल्यों को रोपना चाहता था। इसलिए चीन की दृष्टि में तथाकथित तिब्बत मुक्ति का अर्थ उस पर सैनिक आधिपत्य जमाने के साथ–साथ उसे उसकी राष्ट्रीयता और दलाई लामा से भी मुक्त करना था।

तिब्बत के मुकाबले चीन एक विशाल देश है, जनबल और पशुबल दोनों ही दृष्टियों से। २०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तिब्बत के राष्ट्र जीवन में ऐसा भयंकर संकट आया था जिसकी मिसाल उसके राष्ट्र जीवन में पहले कहीं नहीं मिलती। इसे महज संयोग ही कहा जाए या अंतरराष्ट्रीय षड्यंत्र, जिस समय साम्यवादी चीन तिब्बत के राष्ट्रीय मूल्यों को नष्ट करने का प्रयास कर रहा था

लगभग उसी समय (१९४८-१९४९ में) भारत में भी राष्ट्रीय मूल्यों के संवाहक और प्रतीक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर प्रतिबन्ध लगा कर उसे समाप्त करने का कार्य हो रहा था। यह कार्य पंडित जैवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में किया जा रहा था और तिब्बत में यही कार्य माओ के नेतृत्व में हो रहा था। नेहरू भी कांग्रेस के भीतर साम्यवादी विचारों व तौर-तरीकों के धारक के रूप में जाने जाते थे, शायद भारत के राष्ट्रीय हितों के विपरीत जाकर। इसीलिए उनकी माओ से इतनी पटती थी। रूस के बाद, वे शायद ऐसे पहले शख्स थे जो दुनिया भर में चीन का झंडा लेकर उसके हितों के लिए लड़ते रहते थे। तिब्बत पर कब्जा करने के इस चीनी अभियान के पक्ष में विश्व भर में अनुकूल वातावरण बनाने में तात्कालिक भारत सरकार की यही त्रासदायक भूमिका रही है।

तिब्बत में भारत का दायित्व – जिस समय भारत में सत्ता हस्तांतरण हुआ और अंग्रेजों ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को सत्ता सौंपी उस समय तिब्बत में भारत को कुछ विशेष अधिकार प्राप्त थे। तिब्बत के साथ भारत के विदेश संबंध, तिब्बत सरकार के विदेश ब्यूरो द्वारा संचालित होते थे। तिब्बत में भारत के नागरिकों और भारतीय व्यापार एजेंटों की रक्षा के लिए कुछ संख्या में भारत को अपने सैनिक रखने का अधिकार भी था। तिब्बत में भारत सरकार के ग्यारह विश्रामगृह भी थे। गांतोक से यातुंग और ग्यात्से के बीच डाक-तार व टेलिफोन व्यवस्था का जिम्मा भारतीय व्यापार एजेंटों के पास ही था। यांतुंग फडी तथा ग्यांत्से डाक-तार घरों का संचालन भारत द्वारा ही होता था। भारत के लिए तिब्बत की स्वतंत्रता की रक्षा अपनी रक्षा के समान ही महत्वपूर्ण थी। लेकिन नेहरू ने तिब्बत के प्रति अपने इस दायित्व को नहीं पहचाना। अब तिब्बत को चीन की तरफ से आई इस लाल आँधी का सामना अकेले ही करना था।

स्वतंत्रता की रक्षा हेतु तिब्बती प्रयास – तिब्बत सरकार ने संकट की इस घड़ी में अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एक प्रकार से अंतिम प्रयास

शुरू कर दिये थे। ल्हासा ने विश्व के प्रमुख देशों, विशेष कर भारत, अमेरिका और इंग्लैंड की सरकारों से संपर्क करने के लिए प्रतिनिधि मंडल भेजे। शकपा के नेतृत्व में ऐसे ही एक प्रतिनिधि मंडल ने ८ सितम्बर, १९५० को पंडित जवाहर लाल नेहरू से भेंट की। भारत सरकार का रवैया बहुत सकारात्मक नहीं था। शकपा ने नेहरू से कहा–यदि तिब्बत तबाह होता है तो पूर्वी एशिया के अन्य देशों, खासकर भारत पर भी गंभीर खतरा उपस्थित हो जाएगा। अब भारत ने तिब्बत में अपने व्यापार केन्द्रों की रक्षा के लिए केवल ७५ सैनिक नियुक्त किये हैं। लेकिन यदि भविष्य में भारत और चीन की सीमा तिब्बत पर मिलती है तो भारत को लाखों सैनिक अपनी रक्षा हेतु नियुक्त करने होंगे, जो भारत के लिए मँहगा सौदा होगा। अतः कृपया भारत चीन के वर्तमान मैत्री संबंधों की नहीं बल्कि भविष्य की सुध भी लें।''[१२] लेकिन नेहरू को भविष्य शायद चीन का दिखाई दे रहा था, तिब्बत का नहीं। उधर तिब्बत सरकार के भेजे हुए प्रतिनिधि मंडल विदेशी सरकारों से सार्थक संपर्क स्थापित नहीं कर पा रहे थे। अमेरिका और इंग्लैंड इन्हें वीजा देने के लिए ही तैयार नहीं था। भारत सरकार तिब्बत को बीजिंग से ही बातचीत करने की सलाह दे रही थी। ऐसे समय में चीन ने तिब्बत की संप्रभुता का सम्मान न करते हुए ७ अक्टूबर १९५० को तिब्बत पर चामदो क्षेत्र में आक्रमण ही कर दिया। चीनी सेना के चालीस हजार सैनिक मोर्चा सम्भाले तैयार थे। आदेश मिलने पर वे किसी भी क्षण ल्हासा तक जा सकते थे। चीनी सेना ने यांगछे नदी पार कर ली और इस प्रकार खम पर चीनी आक्रमण की शुरूआत हुई।

संयुक्त राष्ट्र संघ में तिब्बत का प्रश्न – तिब्बत सरकार ने संयुक्त राष्ट्र संघ में अपील दायर की ''साम्यवादी चीन ने बलपूर्वक तिब्बत को चीन में मिलाने के लिए सशस्त्र अतिक्रमण किया है। यह स्पष्ट ही तिब्बत पर चीन का हमला है। .... जब तक तिब्बत के लोगों को उनकी इच्छा के विपरीत पशुबल से चीन का हिस्सा बनने के लिए विवश किया जाता रहेगा, तब तक तिब्बत पर हुआ यह वर्तमान आक्रमण एक शक्तिशाली देश द्वारा

निर्बल देश को हड़पने का निकृष्टतम उदाहरण होगा। अतः हम विश्व संघ से प्रार्थना करते हैं कि वह तिब्बत के अतिक्रमण को रोकने के लिए हमारा पक्ष ले।''[१३] जनरल कमेटी में यह अपील बहस के लिए २४ नवम्बर, १९५० को आई। भारतीय प्रतिनिधि ने कहा–''भारत सरकार को विश्वास है कि अभी भी तिब्बत के प्रश्न का शांति पूर्ण तरीके से हल निकल सकता है। यह हल तिब्बत की स्वायत्तता की रक्षा भी करेगा जिसका उपभोग चीन के साथ अपने ऐतिहासिक संबंध रखते हुए भी तिब्बत शताब्दियों से करता आ रहा है। इस पर अमेरिका के प्रतिनिधि ने कहा–''जब भारत ही, जिसकी सीमा तिब्बत से लगती है और वह इस सारे विवाद में एक प्रभावित पक्ष है, कह रहा है कि वह चीन द्वारा तिब्बत के शांतिपूर्वक समाधान के प्रति आशावान है, तो बहस को स्थगित ही कर दिया जाए।''[१४] इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ में तिब्बत को लेकर बहस बन्द हो गई।

तिब्बती संकट में भारत की भूमिका – भारत सरकार ने तिब्बती सीमांत की रक्षा करने के बजाए चीन से बार–बार यही नम्र अनुरोध करना शुरू कर दिया कि वह तिब्बत के साथ अपने सभी मसले शांतिपूर्ण बातचीत से सुलझा ले और उसके साथ ही पंडित नेहरू तिब्बत सरकार को, कभी डाँटने की मुद्रा में तो कभी समझाने की मुद्रा में, यह बताते रहे कि उसे किसी भी ढंग से चीन के साथ समझौता कर लेना चाहिए। चीन भी तिब्बत के साथ अपनी समस्याएँ सुलझाने को तैयार था लेकिन उसकी मूल इच्छा तिब्बत पर कब्जा करने की ही थी और उसका यही कहना था कि तिब्बत बिना किसी विरोध के आत्म समर्पण कर दे और अपने आप को चीन का हिस्सा स्वीकार कर ले तो बात हो सकती है। दरअसल इस विषय पर तिब्बत भारत और चीन के बीच फँसा हुआ था और दोनों मिलकर उसे एक ही दिशा में धकेल रहे थे। दुर्भाग्य से तिब्बत संकट की इस घड़ी में भारत की ओर देख रहा था और भारत उसे चीन के पाले में चले जाने के लिए पुचकार रहा था। यदि तिब्बत पर चीन का कब्जा हो जाता तो स्वभाविक ही सदियों से शांत भारत–तिब्बत सीमा भारत–

चीन सीमा में तबदील हो जाती और चीन के पुराने इतिहास को देखते हुए स्वाभाविक ही था कि चीन इस सीमा को अमान्य करता और भारत के उत्तरी सीमांत पर एक नया संकट पैदा हो जाता। आश्चर्य है कि सरदार पटेल इस बात को समझ रहे थे और उन्होंने इस विषय पर पंडित जवाहरलाल नेहरू को एक पत्र भी लिखा, लेकिन नेहरू इस सामान्य से तथ्य को या तो समझ नहीं रहे थे या फिर न समझने का हठ कर रहे थे।[१५] लेकिन माओ इसे बखूबी समझ चुके थे। वे जानते थे कि हिमालय के पार पहुँचने के लिए तिब्बत के पठार को लांघना लाजिमी है।

उन दिनों पंड़ित जवाहर लाल नेहरु के चीन और भारतीय सेना के बारे में क्या विचार थे? यह जानकर आज अचम्भा होता है। भारतीय सेना उत्तरी सीमान्त पर छा रहे चीनी संकट को अनुभव कर रही थी। परन्तु नेहरु उसे न केवल धोखे में रख रहे थे बल्कि निरुत्साहित भी कर रहे थे। इस काम में रक्षा मंत्री कृष्णा मेनन उनके सबसे बड़े जोड़ीदार थे। १९५५ में प्रसिद्ध पर्वतारोही श्री सिड़नी विगनल तिब्बत में गिरफ्तार कर लिए गए। उन पर आरोप था कि वे भारत के लिए जासूसी कर रहे थे। कई साल जेल में रहने के बाद जब वह छूटे तो उन्होंने 'स्पाई ऑन दि रुफ ऑफ दि वर्ड' किताब लिखी। उस किताब में तिब्बत जाने से पूर्व विगनल का एक भारतीय सेना अधिकारी (जिसका छद्म नाम सिंह है) से एक लम्बा संवाद दिया हुआ है। यह संवाद १९५५ में हुआ था। यह संवाद उस वक्त की स्थिति का चौंकाने वाला चित्र प्रस्तुत करता है। संवाद के महत्व को देखते हुए इसे पूरे का पूरा उद्धृत किया जा रहा है।

विगिनल – आप मुझे यह कहना चाहते हैं कि आपके प्रधानमंत्री पंडित नेहरु पाकिस्तान को तो भारत का शत्रु मानते है, लेकिन तिब्बत पर चीनी कब्जे को भारत के लिए खतरा नहीं मानते ?

सिंह – बिल्कुल। लोग इस विषय पर खुलकर बोलने से डरते हैं। कोई भी वरिष्ठ सेना अधिकारी या सिविल अधिकारी यदि जाहिरा तौर पर ऐसी

राय देता है तो उसी समय अत्यंत विंडिकटिव कृष्णा मेनन की तीखी नजरों में आ जाता है। उसने अनेक देशभक्तों के कैरियर तबाह कर दिए हैं। किसी भी देश ने तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता को स्वीकार नहीं किया। जब पिछले साल तिब्बत को लेकर वह बदनाम व्यापार संधि अस्तित्व में आई, तब हमने पहली बार तिब्बत पर चीनी प्रभुसत्ता की बात सुनी। यह भी ध्यान में रखना होगा कि भारत और चीन ने तिब्बत के लोगों की राय लिए बिना ही, उसकी स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया। भारतीय सेना को चीन की क्षमता की जासूसी करने से रोका गया। अब यदि उसकी अनुमति दे भी दी जाती है तो हमारी इस क्षेत्र में क्षमता ही शून्य है। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत, ब्रिटेन ने भारतीय सेना की इंटेलिजेन्स सेवा को यह मानकर महत्वहीन बना रखा था कि ब्रिटिश भारत को किसी देश से आक्रमण का खतरा नहीं है। परन्तु १९४७ में अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी भारतीय सेना और विशेषकर सेना की इंटेलिजेन्स सेवा को अपनी सरकार ने भी दोयम दर्जे पर रखा। सेना का प्रशिक्षण, साधन और शस्त्र आपूर्ति सभी जरुरत से कहीं कम हैं। मिलीटरी इंटेलिजेन्स का तो जैसे महत्व ही नहीं समझा गया है। हमारे लिहाज से नेहरु और कृष्णा मेनन सेना के हित चिंतक नहीं हैं। सेना ने तो १९५० में ही इन्हें चीनी खतरे से आगाह कर दिया था। डिफैन्स सर्विसिज स्टॉफ कॉलेज के कमाण्डेंट जनरल जॉय ने तो तिब्बत पर चीनी हमले पर भारतीय नेतृत्व की निष्क्रिय नीति की निन्दा तक की थी। उसने आगाह किया था कि यदि हमने उत्तरी सीमा की सुरक्षा व्यवस्था नहीं की तो भारत को इसका जबरदस्त खामियाजा भुगतना पड़ेगा।

विगनल – क्या आपको लगता है कि चीन भारत पर हमला करेगा और जमीन पर कब्जा कर लेगा?

सिंह – कुछ चीनी जनरलों ने तो अपने सैनिकों को कहना शुरु कर दिया है कि उत्तरी भारत के बड़े हिस्से, नेपाल, सिक्किम और बर्मा वास्तव में चीनी क्षेत्र है और जल्द ही मुक्त करवाए जाएंगे। हमने यह सूचनाएं चीनी

कुओ मिन तांग के उन दलालों से प्राप्त कीं, जो जानबूझकर मुख्य भूमि में रह गए थे। जब यह सूचना पंडित नेहरु को दी गई तो उन्होंने कहा कि क्योंकि यह अमेरिका की सी.आई.ए. के माध्यम से आई है इसलिए दूषित है। नेहरु चीनी कम्युनिस्टों के खिलाफ कुछ सुनने को तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं कि अमेरिका उनके हिन्दी चीनी भाई-भाई के संसार को नष्ट करना चाहता है।[१६] इस संवाद से स्पष्ट होता है कि तिब्बत के प्रश्न पर चीनी नीति को लेकर पंडित नेहरु और भारतीय सेना में मतभेद थे। शायद इन्हीं मतभेदों के चलते जनरल थिम्मैया ने त्याग पत्र भी दे दिया था। श्री गुरुजी ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा भी था कि सरकार का सेना के प्रति दृष्टिकोण अलग प्रकार का है। आजकल तो सेना को भी रचनात्मक कार्यों में लगाने की चर्चा चल रही है। सुरक्षा के बारे में अपने रक्षा मंत्री की कल्पना ही निराली है।[१७]

बंदूक की नोक पर सत्रह-सूत्रीय समझौता – चारों ओर से निराश हो कर ल्हासा ने नगावो की अध्यक्षता में एक पाँच सदस्यीय प्रतिनिधि मंडल बीजिंग में चीन सरकार से बातचीत करने के लिए भेजा। चीन को इसी प्रतिनिधि मंडल की प्रतीक्षा थी। तिब्बत सरकार को भी चीन के इरादे स्पष्ट होने लगे थे। दलाई लामा अपने मंत्रिमंडल समेत ल्हासा छोड़ कर भारतीय सीमांत के समीप द्रोमो में आ गये थे। भविष्य का रास्ता अस्पष्ट था। उधर बीजिंग प्रतिनिधि मंडल को बातचीत में उल्झाये हुए था। कई दिनों तक बातचीत चलती रही। चीन सरकार ने प्रतिनिधि मंडल को यह भी स्पष्ट कर दिया था कि यदि समझौता नहीं होता तो तिब्बती सीमांत पर तैयार चीनी सेना आक्रमण कर देगी। इस प्रकार के वातावरण में चीन ने प्रतिनिधि मण्डल से बन्दूक की नोक पर सत्रह सूत्री समझौते पर हस्ताक्षर करवा लिए। जिसमें लिखा था कि तिब्बत चीन का हिस्सा है और चीनी सेना तिब्बत के सीमांतों की रक्षा करेगी। इस तथाकथित समझौते के बाद नगावो के नेतृत्व में यह प्रतिनिधि मण्डल २३ मई, १९५१ को माओ से मिला तो उसने नगावो से कहा –''अब चीनी सेना तिब्बत में जाएगी। तुम्हारे मन में कोई संशय है तो बताओ?''

नगावो ने कहा–''जब हम तिब्बती चामदो में चीनियों से मिले थे (चीन ने चामदो पर कुछ मास पहले ही हमला करके कब्जा कर लिया था) तो हमारे मन में संशय थे। अब बिल्कुल नहीं हैं और हम चीन की ओर से आश्वस्त हैं।''

माओ ने कहा–''तुम जल्दी में ही राय बना रहे लगते हो। तुम्हारे मन में निश्चय ही शक और आशंका होगी। यदि नहीं है तब तो यह सचमुच ही आश्चर्य जनक है। परन्तु वह दिन जल्दी आएगा जब तुम्हारे सारे शक–शुबहा दूर हो जाएँगे। अब तुम चीनी सेना के साथ रहोगे और दिन प्रतिदिन तुम्हारे शक भी दूर होते जाएँगे।''[१८] माओ के इन गूढ़ वचनों का अर्थ तिब्बत समेत सारी दुनिया समझ रही थी। समझ नहीं रहे थे तो केवल पंडित जवाहर लाल नेहरू या फिर आतुरता से भारत में भी चीनी सेना की प्रतीक्षा कर रहे कम्युनिस्ट बंधु।

माओ के गूढ़ वचनों के अर्थ धीरे–धीरे स्पष्ट होने लगे। बाद में दलाई लामा ने लिखा–''द्रोमो से ल्हासा लौटने पर पहले पाँच या छह हफ्ते की वह अवधि अब मुझे खुशियों भरी लगती है। यह खुशी उस वक्त २६ अक्टूबर, १९५१ को काफूर हुई जब चीन की अठारहवीं रूट आर्मी के तीन हजार सैनिक ल्हासा में आ घुसे। यह सैनिक उस डिवीजन के थे जिसने पिछले वर्ष चामदो में हमारी सेनाओं को हराया था। उनके साथ जनरल तान कुआनसेन तथा चिआंग कुओ–हा आए।[१९] और इस प्रकार ल्हासा पर चीनी सेनाओं का कब्जा हो गया। तनाव दिन–प्रतिदिन बढने लगा।

तिब्बत के साथ भारत पर भी हमला – उधर दूसरी ओर लद्दाख क्षेत्र में १९५०–५१ के आसपास ही चीन ने सिक्यांग और तिब्बत को जोड़ने के लिए भारतीय क्षेत्र में से सड़क का निर्माण शुरू कर दिया था। इस सड़क को लेकर दो प्रकार की संभावनाएँ व्यक्त की जा रही हैं। प्रथम संभावना तो यह कि भारत सरकार को इस सड़क के निर्माण की खबर ही नहीं हुई। दूसरी यह कि सरकार को इस सड़क के निर्माण के बारे में पता था, लेकिन

उसने यह बात देश के लोगों से छिपा कर रखी। पंडित नेहरू शायद यह सोचते होंगे कि चीन को इस सड़क के निर्माण से रोक नहीं पाएँगे क्योंकि उनमें इस प्रकार के कार्यों के लिए सबल इच्छा शक्ति ही नहीं थी और वे देश की जनता के आक्रोश का सामना भी नहीं कर सकते थे इसलिए उन्होंने इस सड़क निर्माण की बात को छुपा कर ही रखा। परंतु १९५३–५४ में चीन ने स्वयं ही इस सड़क के बारे में घोषणा प्रसारित कर दी। तब नेहरू के पास छिपाने के लिए कुछ नहीं बचा। इसी पृष्ठ भूमि में गुस्सायी संसद में नेहरू ने, ''जहाँ घास का तिनका तक नहीं उग्ता'' कलंकोक्ति कही थी। एक ओर चीन तिब्बत पर कब्जा कर रहा था और दूसरी ओर उसने लद्दाख क्षेत्र में अतिक्रमण किया हुआ था और भारत सरकार कभी इन तथ्यों को छिपा रही थी, कभी हकला रही थी और कभी चीन के ही पक्ष में खड़ी नजर आ रही थी।

१९५४ की पंचशील संधि और उसके बाद – ऐसे वातावरण में भारत और चीन के बीच तिब्बत को लेकर वार्ता के अनेक दौर प्रारम्भ हो गये थे। चीन किसी भी ढंग से भारत और तिब्बत के बीच की पुरानी संधियों को निरस्त करना चाहता था ताकि इन दोनों देशों के संबंधों में वैधानिक प्रश्न चिन्ह लग जायें। इन संधियों द्वारा भारत को तिब्बत में और तिब्बत को भारत में कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे। इन संधियों का निरस्त होना न तो भारत के हित में था और न ही तिब्बत के हित में। इससे केवल चीन का विस्तारवादी हित पूरा होता था। भारत के ये विशेषाधिकार एक बार समाप्त हो जाते तो संकट की घड़ी में तिब्बत यदि भारत को पुकारता भी तो भारत उसकी पुकार को अनसुना करने के लिए वैधानिक रूप से बाध्य हो जाता। २९ अप्रैल, १९५४ को भारत और चीन में तिब्बत को लेकर संधि हुई जिसे भारत ने पंचशील की संधि कह कर बहुत अधिक प्रचारित किया। यद्यपि यह संधि भारत और तिब्बत में व्यापार के विभिन्न पक्षों को लेकर थी लेकिन इस संधि की प्रस्तावना में महात्मा बुद्ध द्वारा स्वीकृत पाँच शीलों का समावेश किया

गया। इन पांच शीलों का न तो संधि की मूल भावना से ताल्लुक था और न ही नए चीन के नये मार्क्सवादी दर्शन से। ये पाँच शील थे :–क्षेत्रीय अखंडता तथा संप्रभुता का सम्मान, अनाक्रमण, आंतरिक मामलों में अहस्तक्षेप, समानता तथा सहअस्तित्व। इस संधि की सबसे विचित्र बात यह थी कि भारत सरकार यह संधि बीस साल के लिए करना चाहती थी। जब चीन राजी नहीं हुआ तो दिल्ली ने यह अवधि पंद्रह साल के लिए प्रस्तावित की और उसके बाद दस साल के लिए। परंतु चीन ने इस संधि की अवधि केवल आठ साल के लिए मान्य की। विश्व के इतिहास में शायद इस प्रकार की विचित्र अवधि पहली बार देखी गई। इस संधि के परिणाम स्वरूप भारत ने तिब्बत में अपनी समस्त संपत्ति और अधिकार चीन को समर्पित कर दियेऔर बदले में वह तिब्बत की स्वायत्तता की गारंटी भी प्राप्त नहीं कर सका।

संधि पर हस्ताक्षर होते ही चीन ने एक प्रकार से स्वच्छंद होकर तिब्बत पर अपना शिकंजा कसना शुरू कर दिया और साथ ही भारत के अनेक क्षेत्रों पर अपना अधिकार जताना शुरू कर दिया। उत्तरांचल में बडाहोती में भारतीय सेना की मौजूदगी पर चीन सरकार ने आपत्ति जताई और उसे अपना क्षेत्र बताया। भारत और तिब्बत के बीच सीमा को निर्धारित करने वाली मैकमहोन रेखा को भी अमान्य कर दिया। इसे भी इतिहास का विचित्र संयोग कहना चाहिए कि जिस समय पंडित जवाहरलाल नेहरू तिब्बत में भारतीय अधिकारों का समर्पण कर रहे थे और राष्ट्रवादियों द्वारा आपत्ति किए जाने पर उन्होंने कहा था कि तिब्बत में भारत के ये अधिकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विरासत हैं और इस साम्राज्यवादी पाप को छोड़ना ही उचित है। अब जब चीन ने मैकमहोन रेखा को अमान्य किया तो भारत सरकार के आपत्ति दर्ज कराने पर बीजिंग ने यही तर्क दिया कि भारत–तिब्बत के बीच की यह सीमा रेखा भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद की ही जूठन है। १७ जुलाई, १९५४ को चीन सरकार ने भारत सरकार को बाकायदा बडाहोती में भारतीय सेना की मौजूदगी के बारे में आपत्ति करते हुए पत्र लिखा और उस क्षेत्र में चीनी सैनिक भेजने

भी प्रारंभ कर दिये। इस बीच चीन सरकार अपने नक्शों में हजारों वर्ग मील भारतीय क्षेत्र को चीनी क्षेत्र दिखाती रही।

पंचशील संधि वर्ष १९५४ में ही चीन सरकार ने ''चीन का आधुनिक इतिहास '' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमें किर्गिस्तान, तजाकिस्तान, कजाकिस्तान, लद्दाख, सिक्किम, अरूणाचल प्रदेश, आंशिक असम, अण्डमान, नेपाल, भूटान, म्यांमार, मलेशिया, सिंगापुर, थाईलैंड, कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम, फार्मोसा, सुलु द्वीप,राऊका द्वीप और कोरिया को चीन का हिस्सा दिखाया गया था।[२०] पंचशील संधि की छाया में हिन्दी चीनी भाई-भाई का अनोखा दौर प्रारम्भ हुआ। भारत के अनेक विद्वान् और बुद्धिजीवी चीन की यात्रा पर आने जाने लगे। यह काल प्रतिनिधि मण्डलों का काल था। इनमें से अनेक तो चीन सरकार के निमंत्रण पर जाते थे या फिर भारतीय प्रतिनिधि मंडलों के सदस्यों की हैसियत से। कुछ विद्वान् तो वापस आ कर चीनी सहस्रनामा गाने में मशगूल हो जाते थे लेकिन आँख, नाक और कान खुले रखने वाले चीनी मंशा को पढ़ कर भी आ रहे थे। उन्होंने भारत में वापस आ कर चीन के इन इरादों का खुलासा भी किया। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और गांधीवादी डा. जे.सी. कुमारप्पा ने अपनी चीन यात्रा के पश्चात् इसी प्रकार की चेतावनी दी थी।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण – भारत-तिब्बत संबंधों में १९४९ से लेकर १९५४ में पंचशील की संधि तक का काल अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस काल खण्ड में भारत सरकार ने एक प्रकार से तिब्बत और तिब्बत के लोगों को त्याग ही दिया था या इसे एक प्रकार से चीन के हवाले कर दिया। चीन में भारत के राजदूत के.एम. पणिक्कर के लिए तो वास्तव में तिब्बत का प्रश्न कोई प्रश्न ही नहीं था। इन्हीं पणिक्कर ने पंचशील संधि की आधार भूमि तैयार की थी, जिसने भारत और तिब्बत दोनों के लिए संकट के द्वार खोल दिये। १९५२ में चीन से वापिस आने पर पणिक्कर तिब्बत की समस्या को सुलझा लेने पर अपनी पीठ थपथपा रहे थे। ''तिब्बत का मुद्दा तो और भी

आसान था। ल्हासा में भारत का जो संदिग्ध चरित्र का राजनैतिक अभिकरण था, उसे चाऊ एन लाई काउंसुलेट में बदलने को तैयार हो गये। अलबत्ता हमें चीन को भी यही सुविधा मुम्बई में देनी थी। तिब्बत में भारत के सैन्य एस्कोर्ट को हमें खत्म करना था। बस तिब्बत समस्या समाप्त।''[२१] पणिक्कर के भारत वापिस आने के दो साल बाद १९५४ में पंचशील संधि हुई, जिसकी भूमिका वे बीजिंग में ही तैयार कर आये थे।

पणिक्कर, नेहरू और कृष्णामेनन सहित साम्यवादी टोला जब पंचशील की संधि को लेकर एक दूसरे को बधाईयाँ दे रहे थे तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समेत अन्य राष्ट्रवादी संगठन और आम भारतीय जनता समझ गई थी कि अब तिब्बत और भारत, दोनों पर ही चीनी संकट आने वाला है। १९५० के आस पास ही श्री गुरु जी के उद्बोधनों में तिब्बत समस्या और चीन के संकट का जिक्र होने लगा था। संघ ने सरकार को आगाह करना और स्वयंसेवकों को इस मुद्दे पर जागृत करना प्रारम्भ कर दिया था। अनेक दूसरे चिंतक भी यह कार्य कर रहे थे। ऊपर जिन कुमारप्पा का जिक्र किया गया है, उनका उल्लेख तो श्री गुरु जी ने भी किया।

''(कुमारप्पा) ने अपनी रूस और चीन की यात्रा के पश्चात् स्पष्ट चेतावनी दी थी कि चीन और रूस की दृष्टि में पंचशील की संधि उस कागज के टुकडे के मूल्य के बराबर भी नहीं है, जिस पर वह लिखी गई है। परन्तु साम्यवादी चीन के आक्रमण के सर्वग्रासी भय के सुस्पष्ट चित्रों के प्रति हमारे नेता आंखे बंद कर स्वप्नलोक में विचरण करते रहे।''[२२] ऊपर जिस मानचित्र का उल्लेख किया गया है, उसकी प्रतियाँ भारत में खुले आम बाँटी जा रही थीं। यही एक मानचित्र नहीं, इस तरह के अनेक मानचित्र सरेआम बिक रहे थे। गुरु जी इस क्षेत्र में सरकार की उदासीनता से आहत थे। ''हमारे देश में साम्यवादी चीन के एक नए मानचित्र की प्रतियाँ बाँटी हैं, जिसमें हिमालय के लद्दाख, नेपाल, सिक्किम, भूटान, नेफा (आज का अरुणाचल) और तिब्बत से बाहर निकलती हुई चीन की आक्रमक मुट्ठी की पाँच उंगलियों के पाँच प्रतीक

तथा बर्मा के भाग चीन की सीमा के अन्तर्गत दिखाए गए थे। हमारी सरकार ने इन मानचित्रों के वितरण को रोका तक नहीं।''[२३]। ''वास्तव में इस प्रकार की संधियों की कोई विशेष मान्यता नहीं रहती, अन्यथा संधि होते हुए भी चीन ने तिब्बत को कैसे हथिया लिया होता? (नेहरू का तर्क था कि यदि भारत तिब्बत के प्रश्न को लेकर अड़ जाता तो हिंसा बढ़ सकती थी।) श्री गुरु जी का कहना था कि अंग्रेजों के समय तिब्बत में सेना रहती थी। अब हम लोगों द्वारा सेना हटा लेने से क्या हिंसा टल सकी?''[२४]

श्री गुरुजी की चेतावनी – महाराष्ट्र के वर्धा जिले में सिंदी में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का एक सात दिवसीय चिंतन शिविर आहूत किया गया था। शिविर में गुरुजी ने सूत्ररूप में भारत सरकार की तिब्बत नीति से उत्पन्न हो रहे खतरों से आगाह किया। उन्होंने १३ मार्च, १९५४ को कहा– ''उत्तर में चीन तिब्बत को खा बैठा है और मानसरोवर तथा बद्रिकाश्रम तक अपना अधिकार जताता है। नेपाल और भूटान में चोरी से शस्त्र और अस्त्र भेज रहा है। घुसपैठ हो रही है। असम तक आतंक जमाने के प्रयत्न चल रहे हैं।''[२५] चीन का इतिहास और स्वभाव दोनों ही विस्तारवादी और साम्राज्यवादी हैं। वह मिडल किंगडम सिंड्रोम से ग्रस्त है। पड़ोस में जहाँ भी वह कमजोर स्थल देखता है, वहीं आक्रमण कर देता है। ''एक ओर रूस और दूसरी ओर समुद्र से घिरे चीन को अपनी विस्तारवादी भूख के लिए निर्बल स्थान तिब्बत ही दिखाई दिया। अँग्रेजों ने भारत और चीन के बीच एक मध्यवर्ती राज्य के नाते तिब्बत का स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखा था, किंतु अँग्रेजों द्वारा संपादित इस कार्य को नष्ट करने के उत्साह में हमारे वर्तमान सत्ताधारियों ने तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली।''[२६]

यह सच था कि माओ पूरे एशिया में अपना सम्राज्य बनाना चाहता था। तिब्बत तो उसकी शुरूआत थी। १९५४ में खुश्चेव और माओ की बीजिंग में हुई ऐतिहासिक वार्ता अत्यन्त महात्वपूर्ण है। माओ भारत के भीतर के कम्युनिस्टों की सहायता से दिल्ली में तख्ता पलट करवाकर अपनी अनुगामी सरकार

स्थापित करना चाहते थे। ''परन्तु ख्रुश्चेव ने बीजिंग को भारत सौंपने से इंकार कर दिया।''[२७]

श्री गुरु जी इस बात का आकलन कर रहे थे कि चीन केवल तिब्बत पर कब्जा करने के बाद चुप नहीं बैठेगा वह पूरे हिमालयी क्षेत्र को अशांत करने का प्रयास करेगा, भारतीय क्षेत्र पर दावा भी जताएगा और भारत के भीतर भारत विरोधी तत्वों को बढावा भी देगा। ''जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया और वहाँ बलात् कब्जा कर लिया था, तभी यह स्पष्ट हो चुका था कि हमारे प्रति चीन के इरादे सद्भावनापूर्ण नहीं हैं।''[२८] दस दिन के बाद २३ मार्च को उन्होंने नागपुर में रोटरी क्लब के सदस्यों से बातचीत करते हुए तिब्बत को लेकर की गई भारत सरकार की भूलों से उत्पन्न खतरे की ओर फिर सचेत किया। ''तिब्बत पर कब्जा तो भारत पर चीनी आक्रमण की शुरूआत है।''

चीन के भय से मुक्त होना होगा – लेकिन इसके साथ ही श्रीगुरुजी ने चीन को लेकर भारत में कुछ षड्यंत्रकारियों द्वारा उत्पन्न किये जा रहे भय के वातावरण के बारे में भी टिप्पणी की। प्रारम्भ से ही भारत वर्ष में चीन की शक्ति और सामर्थ्य को लेकर भय का वातावरण बनाने के सुनियोजित प्रयास किये जा रहे थे। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने तो १९४८–४९ में ही अपने भाषणों में चीन को अमेरिका के समकक्ष एक महाशक्ति बताना शुरू कर दिया था और इसकी आड़ में वे तिब्बत पर अपनी अकर्मण्यता छिपाने का प्रयास कर रहे थे। कम्युनिस्ट तो माओवादी चीन की ताकत बताते हुए हाँफने ही लगते थे। तर्क उनका सीधा सपाट था। जब माओ ने अमेरिका से संरक्षित च्यांग काई शेक की सरकार को भगा दिया तो भारत की भला चीन के आगे क्या बिसात हो सकती है? यह एक प्रकार से भारत के लोगों को आक्रमण से पूर्व पराजय स्वीकार कर लेने के लिए मनोवैज्ञानिक धरातल तैयार करने की पूर्व पीठिका थी। श्री गुरुजी इस अभियान के पीछे छिपे षड्यंत्र को पहचान रहे थे। उन्होंने समाज का आह्वान किया ''चीन……… की चिंता करने का

कोई कारण नहीं। हमारा समाज यदि सच्चे स्नेह से जागृत हुआ तो चिंता का विषय रहता ही नहीं। हमें अपनी फौज पर पूरा भरोसा है। पर अपने राजनैतिक नेताओं पर विश्वास रखना जरा कठिन बात हो गई है। सच्चा विश्वास तो जनसाधारण पर रहता है।''[२९] दुर्भाग्य से तिब्बत के मामले में पंडित जवाहर लाल नेहरू पर विश्वास रखना सचमुच कठिन होता जा रहा था। फौज तो तैयार थी, लेकिन उसे हिन्दी चीनी भाई–भाई के शोर में अप्रासंगिक करार दिया जा रहा था। रहा प्रश्न जन साधारण का, वह तिब्बत के संकट में उसके साथ ही था।

साम्यवादियों की भूमिका पर प्रश्न चिन्ह – चीन की इस आक्रमणकारी भूमिका का समर्थन भारत के भीतर साम्यवादी तत्व भी कर रहे थे। उनकी दृष्टि में भारत अभी भी साम्राज्यवादी शक्तियों के कब्जे में था और चीन विश्व के मुक्तिदाता के रूप में प्रयत्नशील था। साम्यवादी तत्व भारत में इसी मुक्तिदाता के आने की कामना कर रहे थे और एक प्रकार से उसके स्वागत में वंदनवार भी सजा रहे थे। पंडित नेहरू मानसिक रूप से चीन के आगे समर्पण कर चुके थे। राष्ट्रवादी तत्व देश के भीतर पंडित नेहरू की इस आत्म समर्पणकारी कायर नीति का विरोध कर रहे थे और साम्यवादियों के इन चीन समर्थक कृत्यों का पर्दाफाश कर रहे थे।

नागपुर में १९५५ के विजयदशमी उत्सव पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा आयोजित शस्त्र पूजन कार्यक्रम में श्रीगुरुजी ने एक बार फिर चीन और तिब्बत के प्रश्न को उठाया और साम्यवादियों व भारत सरकार की नीतियों का पोस्टमार्टम किया, ''बहुत से लोग हम पर आक्रामक हिंदू होने का आरोप लगाते हैं। परंतु वही लोग तिब्बत पर चीन के आक्रमण को चीन का 'आंतरिक मामला' कहकर टाल देते हैं। वह उन्हें आक्रमण नहीं लगता। अब उसी चीन ने भारत की भूमि पर कब्जा कर लिया है। हम उनकी गोलियों का ठीक से उत्तर भी न दे सके। उसके हस्तक तो पहले से ही हमारे देश में सक्रिय हैं, जो उसकी सब प्रकार की कार्यवाहियों का समर्थन ही करते हैं। हमारे देश की राजधानी

में ही चीन ने 'विशाल चीन' के मानचित्र बेचे और बाँटे हैं। इसके प्रत्युत्तर में हमारी सरकार द्वारा केवल निषेध-पत्र जारी कर कर्तव्य की पूर्ति कर दी जाती है।''[३०]

चीन ने अपने विस्तारवादी नक्शे को वापिस नहीं लिया था और शायद उसका ऐसा करने का इरादा भी नहीं था। चीन के पास इन नक्शों के बारे में सधा सधाया उत्तर भी था कि ये नक्शे च्यांग काई शेक की सरकार के समय के हैं और नई सरकार को इन्हें संशोधित करने का अवसर नहीं मिला। गुरु जी जानते थे कि चीन इन्हीं नक्शों को सीमा विवाद के लिए प्रयुक्त करेगा।

अगले साल १९५६ में नागपुर में ही विजयदशमी के उत्सव पर श्रीगुरुजी ने एक बार फिर चीन के खतरे और भारत सरकार की उदासीनता पर चिंता जाहिर की। ''अभी चीन का एक नक्शा बिक्री हेतु जारी किया गया था, जिसमें नेपाल, हिमालय, पूरा कश्मीर और भूटान आदि प्रदेश को चीन का हिस्सा बताया गया था। आगे कुछ हुआ, तब वे फिर से कहेंगे कि पहले सीमा निश्चित करेंगे। ऐसा करते-करते दिल्ली पर भी उनका अधिकार हो सकता है और तब हो सकता है कि पंडित नेहरू को चीन के प्रधानमंत्री का उपप्रधानमंत्री बनकर रहना पड़े।''[३१]

श्री गुरुजी द्वारा तुष्टीकरण का विरोध – चीन सरकार अत्यधिक उग्र और आक्रमणकारी होने लगी और भारत सरकार तिब्बत की बलि चढ़ा कर अपनी रक्षा के लिए एक प्रकार से प्रार्थना के स्वरों में उतर आई। कभी चीन में बौद्ध मत की दुहाई दी जाने लगी और कभी दो हजार साल पुराने शांतिपूर्ण रिश्तों की। कभी उन भिक्षुओं के नामों को याद किया जाने लगा जो भूतकाल में भारत और चीन के बीच यायावर बने थे। भारत सरकार ने तिब्बत को असुरक्षित छोड़ दिया और पंचशील का गीत गाने में मशगूल हो गई, जबकि चीन ने शील से पहले से ही किनारा कर लिया था। बौद्ध मत के ही उपासक तिब्बत को चीन ने डस लिया और दिल्ली तमाशा देखती रही। जनवरी,

१९५६ में विजयवाड़ा में हुए चिंतन शिविर में श्री गुरुजी ने इस सारी स्थिति का बड़ा ही सटीक विश्लेषण किया।, '''शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व' और 'पंचशील' जैसे नारे तथा कागजी समझौते, जिनमें हमारे नेता दिन रात उलझे हुए हैं, हमारे राष्ट्र के विरुद्ध विश्व के स्वार्थी लुटेरे देशों द्वारा गर्हित उद्देश्यों की पूर्ति में केवल छद्मावरण बनाने में प्रयुक्त होते हैं। जैसा हम जानते हैं कि पंचशील सिद्धांत के प्रति विश्वास प्रदर्शन में चीन सबसे आगे है। यह कहकर चीन की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है कि पिछले दो हजार या उससे भी अधिक वर्षों से, जब से उसने बौद्धमत स्वीकार किया है, वह हमारा महान् पड़ोसी और मित्र है। हमारे नेताओं ने घोषणा की कि वे 'किसी भी मूल्य पर' चीन के साथ मित्रता बनाए रखने के लिए कृतनिश्चयी हैं। एक समय हमने इसी प्रकार से 'किसी भी मूल्य पर' इस देश के मुसलमानों की मित्रता संपादित करने का भी निश्चय किया था। राष्ट्र की अखण्डता और सम्मान की दृष्टि से हमें इसका कितना मूल्य चुकाना पड़ा, यह सर्वज्ञात है। चीन के संबंध में भी वही दुहराया गया है।''[३२]

साम्यवादी चीन द्वारा बुद्ध मत का नकार – तिब्बत पर कब्जा करने के उपरान्त चीन ने बौद्धमत की नई व्याख्या की। '' धर्म में विश्वास करना निष्फल है। धर्म अत्याचारी सामंतों का हथियार है। धर्म ग्रन्थों का सामान्य जन को कोई लाभ नहीं है। इसकी व्याख्या के लिए बुद्धमत के मूल को जानना उपयोगी होगा। बुद्धमत के संस्थापक भारत के राजा शुद्धोधन के पुत्र शाक्य मुनि थे। अपने समय के सभी भारतीय राज्यों में से उनका राज्य सर्वाधिक आक्रमणकारी था। शुद्धोधन आस–पास के छोटे राज्यों पर आक्रमण करते रहते थे। शाक्य मुनि के राज्य काल में प्रजा ने उनके विरूद्ध विद्रोह कर दिया और आस–पास के छोटे राजा भी उनके खिलाफ खड़े हो गये। जब उन्होंने शाक्य मुनि के राज्य पर आक्रमण किया तो शाक्य मुनि पराजित हुए और युद्ध से भाग निकले। अब उनके पास दूसरा कोई रास्ता नहीं था। वे जंगलों में भटकने लगे। बुद्धमत की स्थापना करके उन्होंने निराशा और अकर्मण्यता का

प्रचार किया। आम लोगों का उत्साह भंग किया और फिर इस नये मत से अपना साम्राज्य बनाने में जुट गये।''[३३]

लेकिन भारत में, जैसा कि श्री गुरु जी ने इंगित किया था, बहुत से लोग अभी भी चीन और भारत के पुराने इतिहास को उलट–पुलट रहे थे और दोनों देशों के बीच की बुद्धमत की पगडंडियों के सहारे तिब्बत पर भारत के पाप को छिपाने का प्रयास कर रहे थे। वैसे तो चीन में कानफ्यूशियस के प्रभाव के चलते बुद्धमत ने वहाँ की आत्मा को कितना छुआ था, यह अपने आपमें निष्पक्ष अध्ययन का विषय है। परन्तु १९४९ में चीन में जो साम्यवादी क्रांति हुई उसने अन्य बातों के अलावा वहाँ बुद्धमत को नकारने में भी तत्परता दिखाई। तिब्बत के प्रसंग में तो बुद्धमत को विदेशी प्रभाव घोषित किया गया। श्री गुरु जी ने इस आंतरिक परिवर्तन को पहचाना। ''हम यह भूल गए कि पिछले कुछ वर्षों से प्राचीन बौद्धमतावलंबी चीन बदल चुका है। रूसी जादूगर ने उसके शव में साम्यवादी आत्मा का प्रवेश करा उसे एक दानव बना दिया है। उसका दानवी नृत्य अपनी सीमाओं पर हम देख रहे हैं। जब उसने तिब्बत को हड़प लिया था, तब पंडित नेहरू ने उसका हल्का–सा विरोध किया था। उसकी रुखाई के साथ भर्त्सना करते हुए चीन ने कहा कि वह उनके 'आन्तरिक मामले' में अपनी टाँग न अड़ाए । हमारे प्रधानमंत्री इस राष्ट्रीय अपमान को चुपचाप पी गए। भारत और चीन के बीच शाश्वत मित्रता तथा भ्रातृत्व की ऐतिहासिक संधि के नाम पर की गई चीन की दोस्ती और पंचशील की गरिमा बनाए रखने के लिए हम हर बार ऊँची कीमत चुकाते चले आ रहे हैं। उस पर जिस समय दो देशों के महान प्रधानमंत्रियों के हस्ताक्षर हो रहे थे, उसी समय लद्दाख में चीन द्वारा बनाए गए फौजी रास्तों पर उनके सैनिकों से भरे ट्रक धड़धड़ाते हुए हमारे हिमालय क्षेत्र के बड़े भू–भाग पर कब्जा कर रहे थे।''[३४]

पंचशील की संधि के बाद चीन ने यही कहना शुरू कर दिया कि तिब्बत उसका घरेलू मामला है इसलिए भारत सरकार को उसमें बोलने का कोई अधिकार नहीं है। भारत सरकार ने पहले ही तिब्बत को चीन का भाग स्वीकार

करके अपने हाथ पैर बांध लिए थे। तिब्बत पर कब्जा करने के उपरांत चीन ने पूरे हिमालयी क्षेत्र में भारत को घेरने की रणनीति पर अमल करना शुरू कर दिया। नेपाल को भी चीन ने अपने फोकस में लेना शुरू कर दिया इसलिए चीन का तिब्बत पर कब्जा अपने आप में अकेली घटना नहीं मानी जा सकती। बल्कि वह उसकी वृहद योजना का एक महत्वपूर्ण अंग मात्र है। श्री गुरुजी ने विजयवाड़ा के चिंतन शिविर में इस षड्यंत्र के विभिन्न पहलुओं पर विषद चर्चा की। ''इसके पहले (चीन द्वारा) कोरिया और तिब्बत में भी इसी प्रकार की सेनाएं भेजी गई थी। तिब्बत के संबंध में उन्होंने कहा है कि वह उनका घरेलू मामला है । उन्होंने हमारी सरकार को कहा है कि वह बीच में न पड़े। नेपाल के संबंध में भी वे ऐसा ही कहेंगे । नेपाल में उस प्रकार का प्रचार भी किया जा रहा है। वे कहते हैं कि इतिहास की दृष्टि से चीन और नेपाली लोग एक ही वंश के हैं। चीन में प्रकाशित एक नक्शा भी चिंता का विषय है। उसमें नेपाल का कुछ हिस्सा चीन का बताया गया है। इसका अर्थ यह है कि नेपाल में उनका प्रवेश, अतिक्रमण नहीं माना जाएगा। वह सह अस्तित्व के सिद्धान्त का उल्लंघन भी नहीं माना जाएगा। वे कहेंगे यह तो हमारा घरेलू मामला है । अब यह घरेलू मामला इच्छानुसार नक्शे पर पेन्सिल से एक छोटी रेखा खींचकर बनाया जा सकता है। उसके लिए बहुत कुछ नहीं करना पड़ता। किन्तु सवाल उठता है कि हमारे लोग क्या कर रहे हैं? 'किसी भी कीमत पर' इस पंचशील के मंत्र का केवल गुणगान ही करते रहेंगे? उनका तो किसी भी कीमत पर उसकी रक्षा करने का प्रण है, किंतु हमें कितनी कीमत चुकानी पड़ेगी–इसका कोई अंदाजा हमारे नेताओं को है?[३५]

दलाई लामा का भारत आगमन और तिब्बत की स्थिति – चीन सरकार ने सत्रह सूत्रीय संधि में तिब्बत को यह आश्वासन दिया था कि उसे पूरी तरह से स्वायत्त प्रदेश का दर्जा दिया जाएगा और उसके आंतरिक प्रशासन में किसी तरह की दखलंदाजी नहीं की जाएगी। इसी प्रकार पंचशील संधि में भी तिब्बत की स्वायत्तता की बात स्वीकारी गई थी, बल्कि इसमें तो भारत

एक प्रकार से जामिन ही था। लेकिन इसके बावजूद चीन का भीतरी तिब्बत में आक्रमक हस्ताक्षेप जारी था।

१९५६ में महात्मा बुद्ध की २५००वीं जयंती में भाग लेने के लिए वर्ष के अंत में भारत सरकार के निमंत्रण पर दलाई लामा भारत आये तो उन्होंने पंडित जवाहर लाल नेहरू को "विस्तार से पूरी कहानी सुनाई कि कैसे चीनियों ने हमारी शांति पूर्ण भूमि पर हमला किया जबकि हम शत्रु का सामना करने को तैयार न थे। और जैसे ही हमें पता लगा कि बाहरी दुनिया में कोई भी स्वतंत्रता के हमारे अधिकारपूर्ण दावे को मानने को तैयार नहीं है तो कैसे हमने चीनियों के साथ निभाने की जी तोड़ कोशिश की।"[३६]

चीनी सेना धीरे-धीरे ल्हासा में भी और तिब्बत के भीतर भी अपना समानांतर प्रशासन कायम कर रही थी और दलाईलामा की सरकार और प्रशासन को निष्प्रभावी और अधिकार विहीन बनाने की दिशा में जुटी हुई थी। ऐसी परिस्थितियों में दलाई लामा कुछ नहीं कर पा रहे थे। तिब्बत की जनता चीनी सेना से त्रस्त होकर अपनी रक्षा के लिए दलाई लामा की और देखती थी। लेकिन दलाईलामा का प्रशासन चीनी सेना की पशुता के आगे निस्तेज हो रहा था। दलाई लामा ने पंडित नेहरू को इस सारी परिस्थिति से अवगत करवाया। चीनी सेना द्वारा तिब्बत पर कब्जा किये जाने और वहाँ धीरे-धीरे आक्टोपस की तरह अपनी जड़ें जमाने के ये प्रारंभिक प्रयास थे। यदि पंडित नेहरू उस समय भी चेत जाते तो शायद किसी सीमा तक तिब्बत की रक्षा हो सकती थी और भविष्य के चीनी आक्रमण से भी बचा जा सकता था। दुर्भाग्य से पंडित नेहरू ने दलाई लामा से कहा-"आपको जान लेना चाहिये कि भारत आपका समर्थन नहीं कर सकता।"[३७] परन्तु दलाई लामा तिब्बत और चीन की स्थिति को नेहरू से बेहतर जानते थे। इसलिए उन्होंने नेहरू के इस व्यवहार के बावजूद "भारत में शरण पाने के विचार"[३८] की बात कही, पर पंडित नेहरू दलाई लामा को चीन के साथ मिलजुल कर सत्रह सूत्रीय संधि के अनुसार काम करने का ही परामर्श देते रहे। दलाई लामा

के अनुसार ''पूर्वी तिब्बत में हालत इतनी खराब थी कि एक भारी हिंसक प्रतिशोध का खौफ था जो सारे देश को तबाह करके ही पूरा हो सकता था। उन्हें तो इस बात पर भी विश्वास करना मुश्किल लग रहा था कि सत्रह सूत्रीय समझौता अभी और ज्यादा काम देगा।''[३९] अलबत्ता नेहरू ने ये सारी बातचीत चीन के प्रधानमंत्री चाऊ इन लाई को बता दी। चाऊ ने दलाई लामा को चेतावनी दे डाली कि भारत में रहने के बारे में सोचना ही भूल होगी।[४०] इन परिस्थितियों में दलाई लामा को वापस तिब्बत जाना पड़ा और प्रतिक्रिया में चीन ने तिब्बत में अपना शिकंजा और भी क्रूरता से कसना शुरु कर दिया। तिब्बत के दो जननायकों और आध्यात्मिक गुरुओं दलाई लामा और पंचेन लामा में से पंचेन लामा पहले ही चीन के कब्जे में थे और अब किसी न किसी प्रकार से चीनी सेना ने दलाई लामा को भी अपने कब्जे में लेने की रणनीति पर कार्य शुरू कर दिया। तिब्बत के लोगों को चीनी सेना की इस कुटिल नीति की आशंका थी ही।

ल्हासा में चीन के खिलाफ विद्रोह – चीन ने तिब्बत में अपना प्रशासन स्थापित करने के लिए एक नई विधि अपनाई। उन्होंने तिब्बती सरकार के विभिन्न विभागों को पूर्ववत् ही चलने दिया लेकिन इसके साथ–साथ समानांतर चीनी प्रशासनिक संस्थाएँ स्थापित करनी भी प्रारम्भ कर दीं। इन चीनी संस्थाओं के अधिकार के पीछे चीनी सेना का बल था। तिब्बत वर्क कमेटी, तिब्बती सेना कमाण्ड अपने आप में काफी बलशाली थीं। उधर पूर्वी तिब्बत के खम और अमदो प्रांतों में विद्रोह भड़क उठा था। चीनी सेना ने मठों और मंदिरों को गिराना शुरू कर दिया था। लामाओं और भिक्षुओं का सार्वजनिक अपमान किया जा रहा था। अमदो और खम के विद्रोही ल्हासा में आ रहे थे। इससे ल्हासा में भी असंतोष का वातावरण बन रहा था। चीनी सरकार दलाई लामा और तिब्बती सेना का प्रयोग इस विद्रोह को कुचलने में करना चाहती थी। चीन की रणनीति और कूटनीति दोनों ही स्पष्ट थीं। तिब्बती स्वतंत्रता संग्राम को तिब्बत सरकार के हाथों से ही समाप्त करवाना।

१९५९ के आते-आते ल्हासा में तिब्बती जन साधारण में रोष बढ़ने लगा था। ऐसे उत्तेजित वातावरण में एक घटना ने बारूद में चिंगारी का काम किया। लगता था १८५७ के भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का क्रम ही दोहराया जाने वाला था, जब मुँह से कारतूस खोलने की घटना ने चिंगारी का काम किया था। मोनलम का उत्सव आ रहा था। तिब्बती संस्कृति और इतिहास के जानकार जानते हैं कि तिब्बत में यह सबसे बड़ा सांस्कृतिक उत्सव होता है। इसमें देश भर से भाग लेने के लिए श्रद्धालु ल्हासा आते हैं और बुद्ध मंदिर में पूजा अर्चना होती है। मोनलम के दिनों में ल्हासा का प्रशासन भी भिक्षुओं के हाथों में ही चला जाता है। मोनलम से कुछ दिन पूर्व नये तिब्बती वर्ष के अवसर पर दलाई लामा के आवास पोताला में नमग्याल मठ के भिक्षु दल का नृत्य चल रहा था। इस सधे हुए नृत्य की सभी प्रशंसा कर रहे थे। वहाँ बैठे दोनों चीनी अधिकारी तान व देंग भी यह सब देख रहे थे। उन्होंने तुरन्त दलाई लामा को बताया कि चीन से भी एक नृत्य दल आया हुआ है जो नृत्य कला में अत्यंत प्रवीण है। दलाई लामा ने उसे देखने की भी सहमति दे दी। तिब्बती भिक्षु नृत्य के बाद उन्हें अब यह चीनी ड्रैगन नृत्य भी देखना ही था। इस नृत्य के लिए दस मार्च की तिथि निश्चित की गई।

लेकिन चीनी सेना की गतिविधियों से तिब्बतियों को आशंका होने लगी कि यह कार्यक्रम दलाई लामा के अपहरण के लिए बनाया गया है। चीनी सेना का कहना था कि दलाई लामा सेना मुख्यालय में अकेले आयेंगे उनके साथ उनके अंगरक्षक भी नहीं होंगे। बाहर से ल्हासा में आने वालों के लिए बना हुआ पुल भी चीनी सेना ने बंद कर दिया। ल्हासा में ज्यों-ज्यों यह खबर फैलती गई लोगों ने हजारों की संख्या में आ-आकर दलाई लामा के आवास को घेरना शुरू कर दिया। तिब्बत के लोग नहीं चाहते थे कि दलाई लामा चीनी सेना के मुख्यालय में जायें। लोगों का क्रोध उन अधिकारियों के प्रति भी था जिन पर चीन के समर्थक होने का शक था। पी.सी.ए.आर.पी. के सदस्य और प्रभावी तिब्बती अधिकारी खुनचुंग सोनम ग्याछो जब दलाई लामा के आवास स्थान

पर पहुँचे तो क्रोधित तिब्बतियों ने उन्हें चीन का दलाल कह कर गाड़ी से खींचकर पीट-पीट कर मार दिया और बाद में उनकी लाश को खींचकर ल्हासा भी ले गये। दलाई लामा ऐसे वातावरण में चीनी सेना मुख्यालय में ड्रैगन नृत्य देखने नहीं जा सके। लेकिन सात दिन बाद सत्रह मार्च को चीनी सेना ने मुख्यालय से बाहर निकल कर ल्हासा की गलियों और बाजारों में ही ड्रैगन नृत्य शुरू कर दिया। दलाई लामा के निवास स्थान नोरूबुलिंगा पर प्रातः काल ही दो बम गिरे। क्रोधोन्मत चीनी सेना ने ल्हासा में लगभग १० हजार लोगों को मौत के घाट उतार दिया। पंडित नेहरू की तिब्बत नीति की असफलता जगजाहिर होने लगी थी। मार्च, १९५९ का तिब्बती जन विद्रोह उसका प्रमाण था। तिब्बत की भूमि तिब्बतियों के रक्त से लाल हो रही थी। चीनी सेना ने दलाई लामा के आधिकारिक निवास पोताला प्रासाद पर कब्जा कर लिया था।

कुछ लोगों का मानना है कि तिब्बत सरकार को काफी अरसा पहले ही आशंका होने लगी थी कि चीन सरकार दलाई लामा की हत्या कर सकती है। उन्नीस वर्षों तक तिब्बत के प्रधानमंत्री रहे सुरखांग ने १९५९ से दो वर्ष पूर्व ही एक ऐसे चीनी षड़यंत्र का पता लगाया था।[४१] सत्यनारायण सिन्हा का दावा है कि उन्हें ल्हासा से फरवरी १९५९ के प्रथम सप्ताह का लिखा हुआ पत्र रांची में १२ मार्च को मिला था, जिसमें कहा गया था कि १० मार्च को तिब्बत की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी जाएगी और दलाई लामा पूर्व योजना से ही प्रस्थान करेंगे।[४२] घटनाक्रम जो भी रहा हो, तिब्बत चीन की भट्टी में तपने लगा था।

दलाई लामा को भारत में शरण – इन परिस्थितियों में १७ मार्च को दलाई लामा ने अपने कुछ प्रमुख साथियों सहित ल्हासा छोड़ दिया। भविष्यवाणी करने वाले तांत्रिक ने भी कहा था कि दलाई लामा बाहर चले जायें। रात्रि के अँधेरे में वे भारत की ओर चल पड़े। सुरक्षा का जिम्मा खाम्पा विद्रोहियों को ही दिया गया। दलाई लामा का काफिला अब उस क्षेत्र में आ गया था जिसमें मुख्य तौर पर खाम्पा स्वतंत्रता सेनानियों ने अधिकार जमाया

हुआ था। रास्ते में जैसे ही लोगों को पता चलता कि दलाई लामा का काफिला आ रहा है तो वे आशीर्वाद के लिए उमड़ने लगते। लेकिन इन खाम्पा विद्रोहियों को यह नहीं पता था कि दलाई लामा की आगामी योजना क्या है। उधर अमेरिका, आथर और लोछे (दोनों खाम्पा विद्रोही) को बार-बार यही योजना पता लगाने के लिए कह रहा था। तब तक दलाई लामा का काफिला लुंछे जोंग तक पहुँच चुका था। इस क्षेत्र में अभी तक चीनी सेनाओं का कब्जा नहीं हुआ था। यहाँ दलाई लामा ने तिब्बत की अस्थाई सरकार की स्थापना की घोषणा कर दी। तिब्बत के मंत्रिमण्डल को लगता था कि यह क्षेत्र चीन के कब्जे से मुक्त रह सकता है, उन्हें आशा थी कि जिस प्रकार च्यांग काई शेक ने ताईवान में अपनी सरकार स्थापित कर ली थी और अमेरिका ने उसी सरकार को असली चीन की मान्यता भी दे दी थी, उसी प्रकार लुंछे जोंग की तिब्बत सरकार को अमेरिका मान्यता दे देगा। अमेरिका ने नई सरकार को बधाई तो भेजी, लेकिन मान्यता नहीं। अलबत्ता वह अपनी वैश्विक साम्यवाद विरोधी नीति के तहत तिब्बती युवकों को गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण देने को तैयार था और दे भी रहा था। लेकिन जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि चीनी सेनाएँ पीछा कर रहीं थीं और लुंछे जोंग में निरापद रहना संभव नहीं था। अंततः तीस मार्च १९५९ को दलाई लामा ने अपने साथियों समेत भारत में प्रवेश किया।

भारत सरकार ने दलाई लामा को शरण दी। दलाई लामा के भारत आने पर लोगों ने उनका पुरजोर स्वागत किया। दिल्ली नगर निगम की ओर से ३ सितम्बर, १९५९ को उनका सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया और कार्यकारी महापौर केदार नाथ साहनी ने दिल्ली की जनता की ओर से उन्हें हर प्रकार के समर्थन का विश्वास दिलाया। दलाई लामा तेजपुर में अपनी पत्रकारवार्ता कर ही चुके थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मुखपत्र आर्गेनाइजर ने उनके तर्कों का समर्थन किया। ''इतिहास साक्षी है कि तिब्बत वैधानिक दृष्टि से भी और वास्तविक दृष्टि से भी पिछली आधी सदी से स्वतंत्र एवं सार्वभौम देश था। १९५० तक जब चीन ने तिब्बत पर हमला किया तो वह स्वतंत्र था।''[४३]

भारत सरकार के तार्किक विरोधाभास की ओर दलाई लामा ने संकेत किया था। आर्गेनाइजर ने लिखा–''इस विषय में दलाई लामा का तर्क ज्यादा मजबूत है। दलाई लामा ने कहा है कि मैकमहोन रेखा, जिसकी हम सौगन्ध खाते हैं तभी तक है जब तक तिब्बत का स्वतंत्र अस्तित्व माना जायेगा। क्योंकि उस शिमला संधि में जिससे यह रेखा अस्तित्व में आई, हस्ताक्षर करने वाला तिब्बत था, चीन नहीं।''[४४]

साम्यवादियों की भूमिका – भारत के भीतर पसरी हुई चीन समर्थक लॉबी ने दलाई लामा को शरण दिये जाने का विरोध करना शुरू कर दिया। विरोध करने वालों में भारत के कम्युनिस्ट सबसे आगे थे। उनको चीन का आक्रमण दिखाई नहीं दे रहा था, भारत में दलाईलामा के रहने पर आपत्ति हो रही थी। चीन भारतीय सीमा में भी घुसपैठ कर रहा था। लेकिन भारत के कम्युनिस्ट यही प्रचार कर रहे थे कि भारतीय सेना चीन पर आक्रमण कर रही है। सी.पी.आई की राष्ट्रीय परिषद् की बैठक १९५९ में मेरठ में हुई। सारे देश की आँखें इस बैठक पर ही लगी हुई थीं। उस बैठक में क्या हुआ उसका वर्णन बाद में परिषद् के एक सदस्य रमेश सिन्हा ने किया, ''मेरठ में राष्ट्रीय कौंसिल की बैठक हुई। तमाम भाषण हुए। साथी पी. सुन्दरैया जैसे बड़े नेता ने सामने दीवार पर एक बड़ा नक्शा लगाकर एक लम्बी स्केल की सहायता से यह बताने की चेष्टा की थी कि हमला चीनियों ने नहीं बल्कि हिन्दुस्थानी सैनिकों ने किया है।''[४५] जाने–माने कम्युनिस्ट नेता मोहित सेन ने इसी प्रसंग पर लिखा है– ''भारत भूमि पर चीनी दावे की वैधता को उचित ठहराने के लिए सुंदरैया ने काफी संख्या में मानचित्र और अभिलेखागारीय सामग्री एकत्रित की थी और वे इस बात पर जोर दे रहे थे कि साम्यवादी चीन कभी हमला कर ही नहीं सकता। बुर्जुआवादी भारत सरकार यह कर सकती है ताकि वह अपने साम्राज्यवादी आकाओं से लाभ ले सके।''[४६]

३१ मार्च, १९५९ को सी.पी.आई ने चीन को इस बात के लिए बधाई दी कि उसने तिब्बत को मध्य युगीन अँधेरे से बाहर निकाला है। सी.पी.आई

के अनुसार तिब्बत में हुए जन विद्रोह के लिए भू-स्वामी उत्तरदायी हैं, जिनकी सहायता भारत की प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ और पश्चिमी साम्राज्यवादी कर रहे हैं।[४७] सी.पी.आई के महासचिव अजय घोष ने तिब्बत के जन विद्रोह को निर्दयता पूर्वक कुचलने के लिए चीनी दमन का खुला समर्थन किया। घोष ने कहा-''गिने चुने प्रतिगामियों द्वारा किये गये विद्रोह का हश्र उसकी पराजय में हो गया है और तिब्बत के लोंग अब प्रगति पथ पर अग्रसर हो सकते हैं।[४८] बी.टी. रणदिवे तो एक कदम और आगे बढ़ गये। उनके अनुसार भारत के सांसद चीन पर दोषारोपण कर रहे हैं और उसे आक्रांता कह रहे हैं, ''यदि भारतीयों को विस्तारवादी कहा जाता है तो उन्हें ठेस पहुँचती है, तो क्या चीनियों को ठेस नहीं पहुँचनी चाहिये जब उनकी सरकार को आक्रमणकारी कहा जाता है।''[४९]

साहित्य के क्षेत्र में भी साम्यवादी रचनाकार तिब्बत के प्रश्न पर चीन के प्रशस्ति गान में जुटे हुए थे। राहुल सांकृत्यायन ने तो १९५३ में माओ-चे-तुंग की जीवनी ही लिख डाली। उसमें चीन का इसलिए गुणगान किया गया कि उसने तिब्बत पर कब्जा कर लिया है। ''तिब्बत अभी हाल तक पुराणपंथिता का अंतिम गढ़ समझा जाता रहा। दिव्य महात्माओं और उनकी अद्भुत शक्तियों की सैकड़ों झूठी-झूठी कथाएँ तिब्बत के नाम पर दुनिया भर में फैलाई जाती थीं, लेकिन शताब्दियों तक सोया देश भी अब जाग चुका है। वह समय बड़ी जल्दी आ रहा है जब कि वह हमारे उत्तरी सीमांत को नए सिरे से आलोकित कर देगा। असम से लद्दाख तक चीन गणराज्य की सीमा हमारी सीमा से मिलती है और वहाँ पर हमारे तिब्बती पड़ोसी अब नव निर्माण में लगे हुए हैं। साम्राज्यवादी अँग्रेज और अमेरिकन वहाँ के पिछड़ेपन से फायदा उठाकर चीन के साथ उसका झगड़ा खड़ा कराने की हर तरह से कोशिश करते रहे। हिमालय के सत्रह हजार फीट ऊँचे डाँडों द्वारा वह भारी सैनिक सहायता नहीं पहुँचा सकते थे, इसलिए इस काम के लिए उन्होंने भारत को ढकेलना चाहा, लेकिन उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। तिब्बत के प्रतिगामियों ने सब

जगह हाथ-पैर मारकर देख लिया कि उनके सबसे पिछड़े तथा निरंकुश शासन को अक्षुण्ण रखने के वास्ते कोई आकर सहायता देने के लिए तैयार नहीं है, तो अन्त में जनतांत्रिक भावनाओं की विजय हुई और बिना एक बूँद भी खून गिराए तिब्बत विशाल चीनी जन गणराज्य की सहोदर जातियों में सम्मिलित हो गया।''[५०] राहुल के अनुसार तो माओ ने बड़ी शांति से काम लिया। दूसरा कोई राष्ट्र नेता होता तो तिब्बत के प्रतिक्रियावादी सामन्तों के रवैये को देख झुँझलाकर जल्दी कर बैठता और उसका फल भोले-भाले हजारों तिब्बतियों का प्राणों से हाथ धोना होता। माओ-चे-तुंग ने बड़ी सावधानी और ठंडे दिल से काम लिया। अंत में षड्यंत्रियों को मुँह की खानी पड़ी और समझौता हो गया। जनमुक्ति सेना का ल्हासा में बड़ा स्वागत हुआ।[५१]

६ मई १९५९ को चीन सरकार के अखबार पीपुल्स डेली ने ''तिब्बती क्रांति और नेहरू का दर्शन'' नामक एक लम्बा आलेख प्रकाशित किया, जिसमें भारत पर तिब्बत में दखलंदाजी का आरोप लगाया। सी.पी.आई के मुख्य पत्र न्यू एज ने अपने १७ मई के अंक में इसका अनुवाद प्रकाशित किया और देशभर में इसको बाँटा। २५ अगस्त, १९५९ को लांगजु की घटना हुई। अरुणाचल प्रदेश में चीनी सेना लांगजु में घुस आई और वहाँ उसने असम राइफल्ज के तीन जवानों को मार दिया। इस घटना की सी.पी.आई के पोलित ब्यूरो सदस्य मोहित सेन ने निम्न प्रकार से व्याख्या की। ''भारत जिस मैकमहोन रेखा को (भारत-तिब्बत के बीच) वैधानिक सीमा बता रहा है उसकी कभी भी निशान देही नहीं हुई। वैसे भी उसकी रचना एक तरफा मनमाने तरीके से की गई थी। इसलिए लांगजु की घटना के लिए चीन सरकार उत्तरदायी नहीं है।[५२] ए. के. गोपालन और पी. राममूर्ति ने तो सभी सीमाएं लाँघ दीं। उन्होंने कहा-''हमें लांगजु की इस घटना पर ही विश्वास नहीं है। यह भारत सरकार ने गढ़ी है।''[५३] उधर कम्युनिस्ट तिब्बत पर चीनी आक्रमण के पक्ष में खुल कर आ गये थे। ''दस सितम्बर, १९५९ को सी.पी.आई ने कोलकाता में एक जनसभा की जिसमें खुल्लमखुल्ला चीन का समर्थन किया।

सभा की अध्यक्षता ज्योति बसु ने की। बसु ने कहा कि चीन को आक्रमणकारी नहीं कहा जा सकता। साम्यवादी कार्यकर्ता नारे लगा रहे थे कि चीन आक्रमणकारी नहीं है।[५४]

कम्युनिस्ट पार्टी के इसी अभारतीय स्वरूप पर तत्कालीन भारतीय जनसंघ के महासचिव दीनदयाल उपाध्याय ने टिप्पणी की। ''तिब्बत की घटनाओं और उस संबंध में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा बनाई गई नीति ने इस पार्टी के अभारतीय रूप को ही एक बार पुनः प्रकट कर दिया है। चाहे तिब्बत में जो भी आर्थिक या राजनीतिक पद्धति प्रचलित हो, किसी भी बाहरी देश को उसे जबरदस्ती परिवर्तित करने का अधिकार नहीं है। अगर भारत के कम्युनिस्ट चीनी राग में स्वर मिलाते हुए इस आधार पर तिब्बत पर चीनी आक्रमण को उचित ठहरा सकते हैं कि दलाई लामा की सरकार प्रतिक्रियावादी है, तो वे भारत पर चीनी आक्रमण का भी स्वागत कर सकते हैं। यह विशुद्ध विश्वासघात के सिवा और कुछ नहीं है।''[५५]

१९५९ में नागपुर में संघ के विजय दशमी उत्सव में साम्यवादियों के इस व्यवहार पर दुख प्रकट करते हुए श्रीगुरुजी ने कहा कि – 'आज भारत की उत्तरी सीमा पर कम्युनिस्ट चीन का आक्रमण शुरू हो गया है। ऐसे समय कम्युनिस्ट बनने की घोषणा का क्या अर्थ है? कम्युनिस्टों का इस देश से कभी भी हित संबंध नहीं रहा। चीन के भारत पर आक्रमण को भी वे आक्रमण नहीं मानते क्योंकि वे चीन व रूस को विदेशी नहीं मानते। उनकी पहली निष्ठा उन राष्ट्रों के साथ है। उनका समर्थन या सहयोग करना अप्रत्यक्ष रूप से विदेशियों को निमंत्रण देना ही है।[५६] श्रीगुरुजी ने मुम्बई में इस बात का स्वागत किया कि भारत सरकार ने दलाई लामा को शरण दी है। लेकिन ताज्जुब की बात थी कि तिब्बत में जन विद्रोह हो गया था। तिब्बती अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए बलिदान हो रहे थे। पंडित नेहरू ने दलाईलामा को शरण भी दे दी थी। परंतु इसके बावजूद भी पंडित नेहरू अपनी चीन समर्थक और तिब्बत विरोधी नीति पर ही काम करते रहे। भारत सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में तिब्बत

के प्रश्न पर बहस नहीं होने दी। दलाईलामा पर भी अनेक प्रतिबंध लगा दिये। भारत में रह रहे दलाईलामा को अपने देश की स्वतंत्रता के लिए आंदोलन चलाने के लिए भारत सरकार को जिस प्रकार की सहायता करनी चाहिए थी, उसमें सरकार ने कोई रुचि नहीं दिखायी। इस सारी परिस्थिति पर मुम्बई में श्री गुरुजी ने विश्लेषण करते हुए यह भी कहा कि तिब्बत को इस नरक में जाने से बचाया जा सकता था, यदि भारत सरकार तिब्बत के प्रश्न पर पहले से ही राष्ट्रीय हित में यथार्थ दृष्टिकोण अपना लेती। तिब्बत में कुछ भारतीय सैनिक थे भी। लेकिन पंडित नेहरू ने इस तर्क के आधार पर वहाँ से उन्हें हटा लिया कि यदि तिब्बत के मामले में चीनी रास्ते में अवरोध उपस्थित किया गया तो तिब्बत में हिंसा भड़केगी और शायद हिंसा को रोकना ही पंडित नेहरू अपना एक मात्र लक्ष्य मानते। परंतु इतिहास के जानकार जानते हैं कि आत्मसमर्पण और कायरता से हिंसा रुकती नहीं बल्कि अपनी क्रूरतम रूप में प्रकट होती है। तिब्बत में अब यही हो रहा था। श्री गुरुजी ने पत्रकारों से बातचीत करते हुए कहा कि –''(भारत ने दलाई लामा को जो शरण दी है) उसमें तो कोई गलती नहीं हुई। आतिथ्य भारत का परंपरागत धर्म है, पर बाद में दलाई लामा के प्रश्न पर कितना सहयोग देना चाहिए, इसका उपयोग चीन पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव डालने में किस प्रकार किया जा सकेगा, इसका विचार करना चाहिए था। इसके विपरीत राष्ट्रसंघ में इस विषय के विचारार्थ पेश होने पर हमने उसका विरोध किया। ------- वास्तविक रूप से भारत सरकार पहले से ही सीमा के प्रश्न पर उदासीन रही है, इसलिए यह सब हो रहा है। अपनी सीमाओं के संबंध में हमें सजग रहना होगा। इसके विपरीत अपने प्रधानमंत्री कहते हैं कि वहाँ तो घास का तिनका तक नहीं उपजता, सब कुछ बर्फमय ही है, इत्यादि। अपनी ही सीमा के संबंध में ये उद्गार कितने दुःखद हैं। स्वदेश की एक इंच भूमि के बारे में भी इस प्रकार की बात करना अनुचित है। यह तो अपने देश का प्रत्यक्ष अपमान है।[५७] राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के केन्द्रीय कार्यकारी मंडल ने १२-१३ दिसम्बर, १९५९ को चेन्नै में प्रस्ताव पारित

किया,'' चीन भारतीय सीमा को आक्रमित करने का साहस इसलिए कर सका क्योंकि पिछले दस सालों से भारत सरकार चीन के विस्तारवादी उद्‌देश्यों को ध्यान में न रखते हुए उससे मित्रता की शीघ्रता में अयथार्थवादी व निर्बल तुष्टीकरण की नीति का पालन करने में लगी रही। इसी नीति के कारण भारत ने तिब्बत पर चीनी अधिकार को बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लिया। उसका परिणाम यह हुआ कि तिब्बत, जिसके भारत के साथ सदियों से सांस्कृतिक संबंध रहे हैं, की स्वतंत्रता ही खत्म नहीं हुई बल्कि भारत चीन के बीच उसकी बफर की भूमिका भी समाप्त हो गई।[५८] लेकिन कम्युनिस्ट इसी बफर स्टेट के खत्म होने पर माओ को बधाईयां दे रहे थे। बहुत बाद में एक अन्य कम्युनिस्ट नेता रमेश सिन्हा ने भी लिखा। ''जो साथी मार्क्सवादी पार्टी में गये थे, उन्होंने चीनी पार्टी की रीति-नीति को पूरे तौर पर मान लिया।.......... चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने सी.पी.एम के सामने मुख्यतौर पर तीन काम रखे, जिनमें प्रमुख थे-भारत सरकार की सत्ता और शक्ति को कमजोर करना। द्वितीय यदि हो सके तो जवाहर लाल नेहरू को उसी तरह कैद कर लेना जिस तरह च्यांग काई शेक को चीनियों ने एक जमाने में किया था।''[५९]

वार्ता के लिए चाहिये शक्ति का आधार – चीन ने भारत की पूरी हिमालयी सीमा को विवादग्रस्त घोषित कर दिया था और वह यह भी भाँप गया था कि भारत सरकार चीन का किसी भी स्तर पर सामना करने से बच रही है, सामरिक स्तर पर भी और कूटनीतिक स्तर पर भी। नेहरू तिब्बत की बलि देकर चीन को शांत रखना चाह रहे थे लेकिन चीन बलि भक्षण करने के उपरांत भी शांत नहीं हुआ। अब साउथ ब्लाक में यह चर्चाएँ चलायी जा रहीं थीं कि चीन से वार्ता करके कुछ ले दे कर सीमा के प्रश्न को तात्कालिक रूप से दबाया जा सके। यह एक प्रकार से भारत के ही भूभाग को तिब्बत की तरह चीन को समर्पित कर देने की , पंचशील लफ्फाजी आवरण में लिपटी हुई कायर नीति थी। मुम्बई की पत्रकार वार्ता (२ फरवरी १९६०) में श्री गुरुजी ने भारत सरकार की इस मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए कहा कि ''राजनीति

में वार्ता का भी मार्ग बताया गया है, पर उसके लिए शक्ति का आधार चाहिए, तभी वार्ता करना ठीक रहता है। हमारी शक्ति का शत्रु को अनुभव हो सके, ऐसा व्यवहार करना चाहिए। --------- दुर्दैव की बात तो यह है कि भारत ने प्रारंभ में ही तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व स्वीकार कर भारी गलती की है। अब तक के हुए पत्र -व्यवहार में प्रधानमंत्री ने सर्वत्र तिब्बत चीन का भूभाग है, ऐसा ही उल्लेख कर उसकी स्वायत्तता को अस्वीकार किया है। अँग्रेजों ने भी कभी ऐसा नहीं कहा। उन्होंने तो संधि करके वहाँ पर अपनी सेना भी रखी थी। हम लोगों ने ही उसे वापस बुला लिया। प्रारंभ में ही यदि ठीक प्रकार से बात की जाती तो सेना हटाने की नौबत नहीं आती। इसलिए आचार्य कृपलानी ने बिलकुल ठीक ही कहा है कि ''तिब्बत पर किए गए बलात्कार जैसे जघन्य पाप में से पंचशील का जन्म हुआ है।''[६०]

सारा भारत तिब्बत से हो रहे अन्याय की निन्दा कर रहा था, लेकिन कम्युनिस्ट अभी भी अपनी उसी १९४२ वाली रणनीति पर आगे बढ़ रहे थे। वे अंतरराष्ट्रीयवाद के झण्डाबरदार बन कर घूम रहे थे और इसमें वे भारत की बजाय चीन के साथ स्वयं को ज्यादा नजदीक पा रहे थे। सी.पी.आई के हरेकृष्ण कोनार अक्टूबर १९६० में वियतनाम होते हुए चीन गये और वहाँ चेयरमैन माओ से मिले। ''और वहाँ से लौटने के बाद वे सबसे मुखर चीन समर्थक सिद्ध हुए और भारत चीन युद्ध में उन्होंने खुल कर चीन का समर्थन किया।.................. कोनार के माध्यम से ही चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने पश्चिम बंगाल के चीन समर्थक धड़े से प्रत्यक्ष संपर्क बनाये रखा।''[६१]

कुछ विद्वान् भारत-चीन के हजारों साल के शांतिपूर्ण संबंधों का हवाला देते हैं। तिब्बत के स्वतंत्र अस्तित्व के कारण ही भारत और चीन के शताब्दियों से सामान्य संबंध हैं। चीन मूलतः साम्राज्यवादी प्रकृति का देश है और कन्फ्यूशियस के संस्कारों के कारण उसकी विस्तारवादी चेतना सदैव जागृत रहती है। कालांतर में जब चीन में महात्मा बुद्ध के दर्शन का प्रवेश भी हुआ तो चीनियों ने उसे ज्ञान के स्तर पर ही ग्रहण किया, संस्कार के स्तर पर नहीं।

बीसवीं शती में तो जब माओ ने पूरे चीन में कार्ल–मार्क्स की ढाल घुमा दी तो चीन पुनः अपने उसी हान स्वरूप में प्रकट हो गया। तिब्बत, चीन की इसी विस्तारवादी प्रकृति को रोकने वाला एक प्राकृतिक देश है। भारत के उत्तरी सीमांत की सुरक्षा के लिए तिब्बत का स्वतंत्र अस्तित्व और उसकी सार्वभौमिक संप्रभुता का होना भारत के हित में ही है। नैतिक दृष्टि से भी भारत का यह कर्त्तव्य है कि वह संकट के समय अपने पड़ोसी देशों का साथ दे। लेकिन तिब्बत पर भारत सरकार ने जिस अव्यवहारिक, अनैतिक और एक प्रकार से कायर नीति का अनुसरण किया उसका दुष्परिणाम निकलना भी लाजमी था। सुरक्षा विशेषज्ञ इसकी आशंका १९५० से ही जाहिर करने लगे थे और चीन ने भी १९५० में ही भारतीय क्षेत्र पर कब्जा करके लद्दाख में सिक्यांग और तिब्बत को जोड़ने वाली सड़क का निर्माण कर लिया था। इस रास्ते से चीनी सेना के लिए तिब्बत में पहुँचना असान हो गया था। १९५९ में जब दलाई लामा को तिब्बत छोड़कर भारत में आना पड़ा तो चीन का काम और भी सरल हो गया। उसने भारत पर आक्रमण करने की तैयारी इस दशक में पूरी कर ली थी। दलाई लामा के भारत में आ जाने के कारण चीन सरकार की बची–खुची रूकावट भी दूर हो गई। चीन सरकार ने भारत–तिब्बत सीमा पर अपनी सेना ही नहीं बढ़ाई बल्कि बीच–बीच में उसने भारतीय सीमा का अतिक्रमण प्रारंभ कर दिया। भारत तिब्बत सीमा को अमान्य घोषित कर दिया और भारतीय क्षेत्रों पर दावा ठोक दिया। भारत सरकार ने इस अतिक्रमण का उत्तर देने की बजाय या तो इसको छिपाने का प्रयास किया या फिर शांतिवार्ताओं की आड़ में घुटना टेक नीति अपनाई। चीनी सेना विश्व की छत तिब्बत पर आ गई थी। भारत की बारी तो अभी बाद में आने वाली थी, तिब्बत तो यह कीमत चुका ही रहा था।

मध्य एशिया में संकट और असंतुलन का मूल कारण चीन है। चीन ने अपने पड़ोसी देशों मंचूरिया, तुर्किस्तान और मंगोलिया के अनेक भागों पर कब्जा कर लिया। दक्षिण पूर्व एशिया में चीन ने अनेक छोटे देशों पर कहर

ढाया। वियतनाम पर तो प्रत्यक्ष आक्रमण कर दिया। उत्तरी कोरिया को भी अपने शिकंजे में कसा। दुर्भाग्य से जब तिब्बत पर चीन की काली छाया पड़ने लगी और भारत सरकार ने तिब्बंत की सहायता करने की बजाय अप्रत्यक्ष रूप से चीन के स्वर में ही स्वर मिलाना शुरू कर दिया तो मध्य एशिया,दक्षिण पूर्व एशिया के पड़ोसी देशों को निराशा ही नहीं हुई बल्कि उन्होंने भविष्य में चीन से अपनी रक्षा के लिए अमेरिका की ओर देखना शुरू कर दिया। इससे इस पूरे क्षेत्र में भारत की भूमिका सिकुड़ती गई और चीन का पंजा फैलने लगा। अँग्रेजों के चले जाने के बाद भारत सरकार के लिए तिब्बत पहला टेस्ट केस था जिसमें फेल हो जाने के कारण आस–पड़ोस में भारत का कद बौना ही नहीं हुआ बल्कि भारत की अपनी सुरक्षा भी खतरे में पड़ गई।



तृतीय अध्याय

तिब्बत के बाद भारत : चीन का आक्रमण

तब्बत में एक कहावत प्रचलित है कि जब आदमी निराश होता है तो देवता की शरण में जाता है और जब देवता निराश होता है तो वह झूठ बोलता है। पंडित नेहरू शुरू से ही तिब्बत के बारे में, तिब्बत के इतिहास के बारे में झूठ बोल रहे थे। चीन तिब्बत हड़प कर रहा था, जैसे कोई बड़ा अजगर हिरन को निगल रहा हो। स्वभाविक है वह हिरन को निगलने के बाद दुनिया की छत्त पर से भारत की ओर जीभ लपलपाएगा। नेहरू इस अजगर को भी देख रहे थे और इसकी लपलपाती जीभ को भी। चीन भारतीय सीमा पर जगह–जगह घुसपैठ कर रहा था और आक्रमण कर रहा था। उसने लद्दाख क्षेत्र में सड़क बना ली थी। सारा देश इसे देख रहा था। वह सुरक्षा के लिए देवता के पास जा रहा था। लेकिन भारत का यह देवता झूठ बोल रहा था। इतिहास के उस मोड़ पर जब भारत को किसी आशावान देवता की जरूरत थी तो दुर्भाग्य से नेतृत्व निराश देवता कर रहा था। इस निराश देवता के झूठ की कीमत तिब्बत को भी चुकानी पड़ी,भारत को भी और इस देवता को भी। तिब्बत को अपनी आजादी गँवा कर, भारत को १९६२ में अपमानित हो कर और देवता को स्वयं अपने प्राण देकर।

चीन का पूर्व व्यवहार – वास्तव में चीन ने भारत पर हाल ही में

आक्रमण शुरू नहीं किया था। हिमालय के इस पार असम के पर्वतीय इलाकों पर उसकी गिद्ध दृष्टि काफी पहले से जमी हुई थी। १९५० से चालीस वर्ष पहले चीन ने १९१० में एक बार पहले भी ल्हासा पर कब्जा कर लिया था। तेरहवें दलाई लामा को ल्हासा छोड़ना पड़ा था। चीन की सेना ने तिब्बत पर कब्जा जमा लिया था। चीनी सेना भारत की सीमा तक आ पहुँची थी। सीमा पर आने का अवसर मिलते ही चीन के सैनिकों और उसके प्रशासनिक अधिकारियों ने भारतीय क्षेत्रों में बल पूर्वक या छल पूर्वक आना प्रारंभ कर दिया था। ''ल्हासा पर कब्जे के बाद चीनियों ने उत्तरी असम के जनजातीय क्षेत्रों में घुसपैठ शुरू कर दी थी। मई, १९१० में पंगुम गाँव के मिजु मिशमी प्रधान तुंगनू ने बिलियम्सन को बताया कि उसके पास चीनियों ने दो तिब्बतियों के हाथ आदेश भेजा था जिसमें तिब्बत से असम तक सड़क बनाने के लिए कहा गया था। तुंगनू ने उनको बताया था कि वह ब्रिटिश प्रजा है।[१] इसलिए मैं केवल सहायक राजनीतिक अधिकारी सादिया का ही आदेश मानूँगा।'' इसी प्रकार मार्च, १९११ में विलियम्सन ने रपट दी कि चीनी लोहित के दक्षिणी किनारे के साथ-साथ एक सड़क बना रहे हैं। नवंबर, १९११ में चीनियों ने मिशमियों को कहा कि वे लोहित और देलेई के संगम पर चीनी झंडा फहरा दें। जब मिशमियों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया तो चीनियों ने उनको नमक के बड़े-बड़े ढेले दिए और कहा कि तुम ब्रिटिश का नमक खाते हो अब साथ-साथ चीन का नमक भी खाओ।..........इसी प्रकार हजारीखोवा अका गाँव में हाथी पकड़ने वालों ने बताया कि उन्होंने वहाँ चीनियों का एक दल देखा है। अका गाँव तेजपुर के उत्तर में है।''[२] जाहिर है असम की सीमा के जनजातीय क्षेत्रों में चीनियों की इतनी गहन घुसपैठ के लिए ब्रिटिश सरकार तैयार नहीं थी।[३] उपर्युक्त उदाहरणों से संकेत मिलते हैं कि उस वक्त भी चीन की मंशा हिमालय के पार भारतीय क्षेत्रों पर कब्जा करने की थी। अँग्रेजों के चले जाने के बाद चीन का यह व्यवहार भारत के लिए चेतावनी का कार्य कर सकता था। लेकिन दिल्ली में चेतावनी सुनने वाला कोई नहीं था। वहाँ केवल शांति के कबूतर उड़ाए जा रहे थे।

वास्तव में पंडित नेहरू स्वयं को विश्व का शांतिदूत मान कर चल रहे थे। देश की सीमा संबंधी समस्याओं में हाथ डालना उनकी दृष्टि में युद्ध को निमंत्रण देना था और युद्ध का अर्थ था शान्ति दूत के मिथक का टूट जाना। इसलिए वह इससे बच रहे थे और बचने के ही इन प्रयासों में चीन को तिब्बत भी सौंप रहे थे और हिमालयी क्षेत्र के कुछ दूसरे इलाके भी। उनकी दृष्टि में तिब्बत समस्या गौण थी, जबकि उससे भारत की सुरक्षा जुड़ी हुई थी। वे कोरिया समस्या हल कराने में ज्यादा रुचि ले रहे थे क्योंकि उनकी समझ में इस समस्या से विश्व शांति जुड़ी हुई थी। पंडित नेहरू यह नहीं समझ पाये कि कोरिया में विश्व शांति को जो भंग कर रहा है वह भी चीन ही है और तिब्बत व हिमालय क्षेत्र में भारत की सुरक्षा पर जो प्रश्न चिन्ह लगा रहा है वह भी चीन ही है। देश के भीतर वह जन मानसिकता को चीन के आगे नतमस्तक होना सिखा रहे थे और देश से बाहर वह दूसरे देशों को चीन के साथ किसी तरह भी चलने की कला सीखने का उपदेश दे रहे थे । श्री गुरुजी ने पंडित नेहरू की शान्तिदूत बनने की इस मानसिकता का १९६० में ही विश्लेषण करते हुए चक्रवर्ती राजगोपालाचारी को उद्धृत किया था, जिनके अनुसार । ''आज की सरकार जब तक है तब तक चीन जितना-जितना हिस्सा लेकर बढ़ता जाएगा, उतना उतना उसे दान करके शांतिदूत कहलाने वाले हमारे नेता कन्याकुमारी तक पीछे हटते जाएँगे ।'' उसके बाद उन्होंने टिप्पणी की कि ''मुझे लगता है कि शायद समुद्र में कूदकर मछली के पेट में से भी ये घोषणा करेंगे कि हम युद्ध नहीं करेंगे, हम शांतिदूत ही बने रहेंगे ।''[४]

१९६२ की विजयदशमी के दिन नागपुर में शस्त्रपूजन के कार्यक्रम में बोलते हुए चीन की धूर्तता के प्रति श्रीगुरुजी ने सचेत किया था। 'नेफा में (वर्तमान अरुणाचल प्रदेश-सं.) चीन घुस आया है, ऐसे समाचार मिल रहे हैं। समाचार पत्रों में इस संबंध में समाचार प्रकाशित हुए है। यह कितनी चिंता की बात है, किंतु हमारी सरकार ने इसे गंभीरता से नहीं लिया-इसका अनुमान हम विदेश मंत्री के वक्तव्य से कर सकते हैं। न्यूयार्क के लिए प्रस्थान करने से

पूर्व उन्होंने कहा–'चीन के इस आक्रमण से बहुत परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। चीन को तो आक्रमण करने की आदत है, उसका यह स्वभाव बन गया है।'[५]

भारत सरकार के विदेश मंत्री का यह वक्तव्य उस समय की सरकार की मानसिकता की ओर संकेत करता है। प्रश्न यह है कि यदि चीन को पड़ोसी देशों पर आक्रमण करने की आदत है तो भारत को उस आक्रमण से अपनी रक्षा करने की आदत क्यों नहीं डालनी चाहिए ? परंतु पंडित नेहरू और उनके विदेश मंत्री चीनी आक्रमण को चीन का स्वभाव बता कर चुप हो जाते थे और जब तिब्बत पर चीन के कब्जे का प्रश्न उठता था तो पंचशील की धुनों पर कबूतर की तरह गुटर गूं करने लगते थे। श्रीगुरुजी ने पंचशील और चीनी स्वभाव के इसी विरोधाभास को नंगा किया।

'पंचशील के सिद्धांत बड़े अच्छे हैं। उन्हें अपनाएँ तो झगडे होंगे ही नहीं, वैमनस्य रहेगा नहीं, पर मनुष्य स्वार्थी है। व्यक्ति समूह का अंग बनकर अधिक स्वार्थी बन जाता है। इसके चलते दुष्ट भी हो जाता है। आज मनुष्य की प्रवृत्ति पंचशील की नीति को मानती नहीं, उल्टे उसका दुरुपयोग करने की ही है। चीन को ही लें। आक्रमणकारी होकर उल्टे हमको ही पंचशील का उपदेश कर रहा है, साथ ही साथ हमारी सीमा में भी घुसता जाता है।'[६]

१९६२ में चीन का भारत पर आक्रमण – भारत और चीन के बीच १९५४ को हुई पंचशील संधि की आयु १९६२ को समाप्त हो रही थी। २० अक्तूबर को प्रातः ५.१५ बजे चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया। तब समझ में आया कि चीन संधि केवल आठ साल के लिए क्यों करना चाहता था। उसे आक्रमण की पूर्व तैयारी के लिए समय की दरकार थी। जितना समय चाहिए था, उसने उतने समय के लिए ही संधि की थी। यह आक्रमण उत्तरपूर्व में नमकचू पर हुआ। भारतीय सेना ने पूरी शक्ति से मुकाबला किया। परंतु यह वास्तव में दो तरफा युद्ध था ही नहीं। चीन इस क्षेत्र में पिछले दस सालों से युद्ध की तैयारी कर रहा था और भारत में तैयारी के नाम पर हिन्दी

चीनी भाई-भाई की धुनें अभी भी बज रहीं थीं और वास्तव में चीनी सेना ने आक्रमण के समय भी भारतीय सैनिकों का उपहास उड़ाया गया। क्योंकि वे जानते थे लड़ाई एक तरफा है। चीनी सेना के साथ दुभाषिए भी थे। नमकचू मोर्चे पर वे हिन्दी में भारतीय सैनिकों से चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे थे- ''भारतीय सैनिकों को नमकचू से वापिस हट जाना चाहिये, क्योंकि नमकचू क्षेत्र चीन की सीमा में आता है। भारतीय और चीनी नागरिकों की मित्रता अटूट है इस अटूट मित्रता को मामूली से सीमा विवाद के चलते कलंक़ित नहीं करना चाहिये। समझ में नहीं आता भारत ने सीमा पर नियमित सैनिकों को आंक्रमण के लिए क्यों भेज दिया ? आप स्थानीय नागरिक अधिकारियों से कहिये की वे हम से बातचीत करें ताकि सीमा के विवाद और सैनिक संघर्ष को समाप्त किया जा सके। आपस में मित्रतापूर्वक बातचीत से सीमा विवाद के प्रश्न का जब हल किया जा सकता है तो लड़ने की क्या जरूरत है? सीमा विवाद के हल के लिए सीमा पर युद्ध कभी नहीं लड़ा जा सकता बल्कि इसे आपस में मिल बैठ कर बातचीत के जरिये ही हल किया जा सकता है।''[७] भारतीय सेना के जवानों को किसी भी प्रकार से गोला बारूद और रसद पहुँचने का अवसर ही नहीं था। कुछ ही घंटों में सारा कांड पूरा हो गया। ''२ राजपूत से ९ अधिकारी और जे.सी.ओ. व अन्य रैंकों के २६८ सैनिक मारे गये एक अधिकारी और अन्य रैंकों के २३ सैनिक घायल हुए। ९ पंजाब, १/९ गोरख राईफल्स और ५ असम राईफल्स के कुल मिला कर ८ अधिकारी और जे.सी.ओ. व अन्य रैंकों के ७ सैनिक मारे गये। अन्य रैंकों के ३२ सैनिक घायल हुए।''[८] एक अन्य स्रोत के अनुसार-चार घंटे के अन्दर-अन्दर राजपूत बटालियन के ५१३ सैनिकों में से २८२ मारे गये और १७१ बंदी बना लिए गये जिनमें से ८१ बुरी तरह घायल भी थे। वापस आ कर पराजय की यह करुणा जनक कथा बताने के लिए केवल ६० सैनिक बचे थे।[९] चीन ने लद्दाख से लेकर अरुणाचल प्रदेश तक पूरी सीमा पर धावा बोल दिया। २३ अक्तूबर को उसने बुमला पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की।

दिल्ली में हड़बड़ी मची हुई थी। नेहरू को पराजय की व्याख्या करने के लिए शब्द नहीं मिल रहे थे।

चीन की धमकाने की चाल – दरअसल चीन भारत के साथ भी वही रणनीति अपना रहा था जो उसने अक्तूबर, १९५० में तिब्बत के साथ अपनाई थी। तिब्बत में भी १२ साल पहले अक्तूबर मास में ही उसने चामदो में अपनी सेना भेज कर कब्जा कर लिया और चीन तिब्बत सीमांत पर सेना खड़ी कर दी। सैनिक बल के इस प्रदर्शन से वह तिब्बत को समझौता वार्ता की मेज पर ले आया और विकल्प हीनता की स्थिति में उससे सत्रह सूत्रीय समझौते पर हस्ताक्षर करवा लिए और तिब्बत को गुलाम बना लिया। अब भी उसने नमकचू पर कब्जा कर लिया था और भारत के सीमांत पर सेना बिठा दी थी जो किसी भी क्षण हमला करने के लिए तैयार थी। सैनिक शक्ति के इस प्रदर्शन के बाद उसने दिल्ली को सीमा समझौते के लिए प्रस्ताव भेज दिये। संकेत स्पष्ट था, या तो चीन द्वारा निर्धारित सीमा स्वीकार करो या अगले आक्रमण के लिए तैयार रहो। नेहरू की विवशता थी। सीमा पर वे चीन की शर्तों के अनुसार समझौता कर नहीं सकते थे क्योंकि भारत तिब्बत नहीं था और युद्ध के लिए वे इस अल्प अवधि में तैयारी नहीं कर सकते थे क्योंकि अपनी तिब्बत-चीन नीति में वे सेना की भूमिका को पहले ही नकार चुके थे। "चीन अपने दावे के समस्त भूभाग को अधिकृत करके शक्ति प्रदर्शन के बल पर भारत को समझौतावार्ता के लिए विवश करना चाहता है। चीन की सेनाओं के बढ़ने का यही तर्क हो सकता था।"१०

१५ नवम्बर को चीनी सेना ने बालोंग पर धावा बोला और दो दिनों के भीतर ही उसका पतन हो गया। १८ नवम्बर को से-ला पर आक्रमण हुआ। १९ नवम्बर को से-ला और बोमडी-ला भारत के हाथ से निकल गये।

भारतीय सेना की इस आक्रमण के लिए तैयारी नहीं थी। या फिर यह कहा जा सकता है कि सेना को आधुनिक बनाने और चीन से मुकाबला करने के लिए सरकार साधन मुहैया करने के लिए तैयार नहीं थी। सेना के पास

हथियारों की कमी थी और सरकार के पास जीतने वाले संकल्प की। इसका जो दुष्परिणाम हो सकता था वही हुआ। सेना एक-एक मोर्चे पर हारने लगी और माओ की लाल सेना उन मोर्चों पर कब्जा करने लगी। देखते-देखते चीनी सेना तेजपुर में आ घुसेगी, ऐसी आशंका पनपने लगी। तब तिब्बत नीति के जनक और दलाई लामा को ही शांति का उपदेश देने वाले पंडित जवाहर लाल नेहरू का वह ऐतिहासिक भाषण सामने आया जिसने असम में एक प्रकार से भूकंप ला दिया । पंडित नेहरू ने अपने भाषण में एक प्रकार से असम को अलविदा ही कह दिया और उन्हें विश्वास दिलाने की कोशिश की कि भारतवासियों की संकट के इस काल में असम के लोगों के साथ केवल कोमल भावनाएं ही हैं। तेजपुर का जिलाधीश वहाँ से भाग गया। चीन की सेना आगे बढ रही थी। लेकिन अब नीचे मैदानी क्षेत्र शुरू होने वाला था। चीन जानता था कि उसकी विजय का अंत हो गया है।

चीन का एक तरफा युद्ध विराम - २० नवम्बर १९६२ को चीन ने एक तरफा युद्ध विराम की घोषणा कर दी और अपनी सेनाओं को पीछे हटाने का काम भी शुरू कर दिया। चीन एक तरफा युद्ध विराम की घोषणा से एक तीर से तीन शिकार कर रहा था। प्रथम उसने भारतीय भूभाग पर कब्जा किया। उसने अंतर्राष्ट्रीय जगत में भारत को अपमानित करके उसकी साख को बट्टा लगाने का प्रयास किया और तृतीय उसने तिब्बत के स्वतंत्रता सेनानियों को अप्रत्यक्ष चेतावनी दे दी कि यदि वे भारत के बलबूते पर स्वतंत्रता के सपने देख रहे हैं तो उसका हश्र निश्चित ही है । इस एकतरफा युद्धविराम पर देश के कुछ पंचमांगी तत्वों ने चीन के ही गुण गाने शुरु कर दिये । चीन ने भारत की जिस भूमि पर कब्जा कर लिया था, उसकी उन्हें चिंता नहीं थी । लेकिन चीन की सेना कुछ जीते हुए इलाकों से पीछे हट गई है इसका उदाहरण देकर कुछ लोग चीन के समर्थन में अपना गला ही बिठा रहे थे । श्री गुरु जी को इस एकतरफा युद्ध विराम के बारे में कोई मुगालता नहीं था । उनके अनुसार "चीनी फौजों ने हमारे बड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया और बड़ी उदारता

का प्रदर्शन कर एकतरफा युद्ध विराम घोषित कर दिया। पर इसी बात से यह भी सोचना कि खतरा टल गया, गलत है। हमें पता रहना चाहिए कि उनकी सेना और सैन्य सामग्री का वहाँ जमाव है। कहा नहीं जा सकता कि कब अगला आक्रमण होगा।''[११] लेकिन एक प्रश्न जो सभी को आश्चर्य चकित कर रहा था, यही था की चीन ने एकतरफा युद्ध विराम क्यों किया? इसका एक कारण तो निश्चित ही था, क्योंकि अब लड़ाई मैदानों में शुरू हो सकती थी, जिसमें चीनी सेना पिट सकती थी। इसका एक दूसरा कारण भी था जिसकी और श्री गुरु जी ने संकेत किया था। ''चीनियों की अपेक्षा थी कि यहाँ के लोग आपसी विवादों में झगड़ते रहते हैं। वे एक होकर सामना नहीं करेंगे। जनता के असंगठित होने का लाभ उन्हें मिलेगा। यहाँ की जनता भाषा, धर्म, पंथ के प्रति अपनी अलग अलग निष्ठा के कारण एक नहीं हो पाती, पर चीनी उस समय स्तंभित रह गए जब उन्होंने देखा कि अपनी मातृभूमि के गौरव, उनकी प्रतिष्ठा पर आँच आती देखकर, सारे लोग एक होकर खड़े हो गए। उनका दृढ़ संकल्प था कि आक्रमण को मार भगाएँगे। मातृभूमि की एक इंच भूमि भी शत्रु के पास नहीं रहने देंगे।''[१२]

युद्ध के दौरान कम्युनिस्टों की भूमिका – परंतु भारत में चीन समर्थक लॉबी को भारतीयों की इस एकता से कुछ लेना–देना नहीं था। वह तो चीन की इस एक तरफा युद्धविराम की घोषणा और उसकी सेना के कुछ क्षेत्रों में पीछे हट जाने से ही आल्हादित हो कर दिल्ली में हिजडों की तरह नाच–नाच कर चीन की सदाशयता के भजन गाने में लगी थी। नपुंसकता और नेतृत्व का अजीब घालमेल हो रहा था। शत्रु से लोहा लेने वालों को उन्मादी और युद्ध पिपासु कहा जा रहा था और शत्रु के आगे पीठ के बल लेट जाने वाले नेतृत्व को शांति का महानायक कहा जा रहा था। तब श्री गुरुजी ने भारतीयों की भावना का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा था कि ''शत्रु को तिब्बत से निकाल बाहर किये बिना युद्धबंदी स्वीकार करना सामरिक दृष्टि से भयंकर भूल होगी। कश्मीर में युद्धबंदी का जो अनुभव हुआ है वह हमारे लिए पर्याप्त चेतावनी होनी

चाहिए। समय से पूर्व युद्धबंदी हमारी सेना व जनता का केवल उत्साह भंग करेगी। वास्तव में इससे उनके महान् बलिदान व्यर्थ हो जाएँगे। यदि हमारे नेता राष्ट्र को संघर्ष की आवश्यकतानुसार उत्कटता से नहीं चला सकते तो उन्हें चाहिए कि दृढ़तर तत्त्वों से निर्मित लोगों के लिए स्थान खाली करें। प्रतिभा और मेधाशक्ति पर कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार नहीं होता, चाहे वे व्यक्ति वर्तमान काल के कितने ही प्रभावशाली व्यक्ति क्यों न हों। योद्धाओं की अमर जाति की माता– भारत में पराक्रमी एवं सामर्थ्यवान् नेताओं का अभाव कभी नहीं रहा।''[१३]

जब देश और उसकी सेना लड़ रही थी तो कम्युनिस्टों की लॉबी सारा दोष भारत के सिर पर मढ़ कर चीन को निर्दोष होने के प्रमाण पत्र जारी कर रही थी। भारत के जो क्षेत्र चीन ने जीते थे उनका वर्णन कम्युनिस्ट इस प्रकार कर रहे थे मानो वे चीनी क्षेत्र हों जिन्हें चीनी सेना ने भारतीय कब्जे से खाली करवाया हो। साम्यवादी आकलन के अनुसार,''संसद में ८ नवम्बर के प्रस्ताव के बाद ११ नवंबर को चीन की फिर कड़ी निंदा करने और नेहरू के १४ नवंबर के पत्र से चीन सरकार ने समझ लिया कि भारत किसी भी कीमत पर चीन सरकार से सीमा विवाद के प्रश्न को शांतिपूर्वक समझौता शर्तों द्वारा हल करने को तैयार नहीं है। इसके बाद चीनी सेनाओं ने सीमा पर अपना अभियान सघन कर दिया। बालोंग अपने अधिकार क्षेत्र में ले लिया तथा पूर्वोत्तर एवं पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में कई स्थानों पर सैनिक दवाब बनाने में सफल रहे। १८ नवंबर को पूर्वोत्तर क्षेत्र में बोमडी–ला कस्बे को भारतीय सेनाओं से खाली करवा लिया।''[१४] बांग्लादेश (उस समय पूर्वी पाकिस्तान) और नेपाल के बीच दस मील का तंग गलियारा ऐसा स्थान था, जिसके एक मात्र रेलवे मार्ग से भारतीय सेना को आवश्यक सामग्री की आपूर्ति हो सकती थी। ''चीन के दलालों ने उसी रेलवे मार्ग को उड़ाने का प्रयास किया।''[१५]

लेकिन कुछ लोग युद्ध काल में ही देश को भीतर से तोड़ कर चीन की तथाकथित मुक्ति सेना के स्वागत में पलक–पाँवडे बिछाये खड़े थे। नागपुर में

श्री गुरुजी ने ऐसे लोगों को ही चेतावनी दी कि देश के लोग इस प्रकार के पंचगामी तत्वों को निकाल बाहर करेंगे।

''चीन के आक्रमण के समय मुझे विश्वसनीय सूत्रों से जानकारी मिली थी कि चीन की योजनानुसार, स्थानीय लोगों में कम्युनिस्टों के उकसाने पर विद्रोह होगा। बंगाल में सर्वत्र आम हड़ताल की जाएगी। असम में सारा कार्य ठप्प कर दिया जाएगा। सरकार को विकलांग करने की उनकी योजना थी। सभी ओर हड़ताल कर, कारखानों में उत्पादन बंद कराकर, प्रतिरक्षा सामग्री का उत्पादन भी रुकवाकर बंगाल का सर्वसामान्य जनजीवन असहाय कर छोड़ने की योजना थी ताकि चीन आराम से कोलकाता पहुँच जाए। पर किसी कारण से योजना सफल नहीं हुई। शायद यह भय रहा कि जनता की देशभक्ति की भावना केवल चीनी आक्रमणों को नहीं, उनके स्थानीय समर्थकों को भी निकाल बाहर करेगी।''[१६]

श्री गुरुजी की चिन्ता इस बात को लेकर भी थी कि जिन लोगों के कंधों पर देश की सुरक्षा का भार है, उनका इसके प्रति मातृ भाव न हो कर पत्थर कंकर जैसा भाव है। मातृ भूमि केवल जमीन का टुकड़ा नहीं होती बल्कि उसके प्रति चैतन्य भाव होना आवश्यक है। ''विदेशियों के क्रूर हाथ हमारी मातृभूमि पर पड़ रहे हैं और हमारे नेता कहते हैं–वहाँ तो घास का तिनका तक नहीं ऊगता। क्या हमारी देशभक्ति का यही लक्षण है? यदि हम सच्चे देशभक्त हैं तो अन्न हमारे लिए स्वादहीन हो जाना चाहिए। हृदय में भारी पीड़ा होनी चाहिए।''[१७] श्री गुरुजी ने बाद में भी भारत में चीन समर्थकों की रीति नीति पर टिप्पणी की। ''कुछ लोग जो कम्युनिस्टों में अच्छाई ही पाते हैं, वे कहते हैं कि चीन का हमारी भूमि पर अतिक्रमण का कोई इरादा नहीं था। वे तो केवल वहाँ तक आना चाहते थे, जहाँ दोनों देशों की सीमा रेखा है। वे मैकमहोन लाइन को नहीं मानते। इसीलिए वे वहाँ तक आए, जिसे सीमा रेखा होने का दावा करते हैं। अपना अधिकार कायम किया और फिर लौट गए।''[१८]

तिब्बत के साथ विश्वासघात से उपजा यह संकट – लेकिन दुर्भाग्य से सरकार अपनी उसी कायरतापूर्ण नीति पर चलती रही और अपनी हार का कारण भूगोल को बताने लगी। श्रीगुरुजी ने नागपुर में पाँच नवंबर १९६२ को एक वक्तव्य जारी कर कहा कि आज की स्थिति के लिए नेहरू की सरकार स्वयं जिम्मेदार है। यदि सरकार ने समय रहते तिब्बत की चीन से रक्षा की होती तो शायद आज यह परिस्थिति पैदा नहीं होती। उन्होंने यह भी कहा कि अब जब चीन ने भारत पर आक्रमण कर ही दिया तो भारत को भी तिब्बत की स्वतंत्रता का प्रयास करना चाहिए। इससे चीन भी नियंत्रित रहेगा। श्री गुरुजी के ही शब्दों में –' सत्ताधिष्ठित पुरुषों का कथन है कि भौगोलिक परिस्थिति हमारे विपरीत है किंतु इस नवीन भौगोलिक परिस्थिति के लिए उत्तरदायी कौन है ? तिब्बत पर कभी हमारा प्रभाव था। हमने उसे चीन को उदरस्थ कर जाने दिया। यदि आज भौगोलिक परिस्थितियाँ विपरीत हैं तो उसके लिए पूर्ण रूप से दोषी अपनी सरकार है। तिब्बत पर चीन का अधिराज्यत्व स्वीकार करना हमारी बहुत बडी भूल थी। अब, जबकि चीन ने पंचशील संधि को अस्वीकृत कर दिया है और वह हमारी सीमाओं का अतिक्रमण कर रहा है, हमें तिब्बत को स्वाधीन कराने का प्रयास करना चाहिए।'[१९]

चीनी आक्रमण के बाद प्रधानमंत्री नेहरू ने आक्रमण के असली उद्देश्य को इंगित करते हुए कहा–''चीन हमें सेना बल से धमकाना चाहता है। वह एशिया में हमें अपमानित करना चाहता है। चीन स्वयं को एशिया की महाशक्ति समझता है और शेष हम सभी को बौने देश। चीन चाहता है कि हम उसकी नीति का अनुसरण करें और उसके रास्ते में न आएँ। कोई भी स्वाभिमानी देश, विशेषकर भारत, इसे सहन नहीं कर सकता। इसलिए हमें लड़ना होगा। यह (भारत–चीन–तिब्बत) ऐसा मसला नहीं है जो कुछ सप्ताहों या महीनों में निपट जाएगा। यह देर तक चलने वाला मसला है। हमें प्रत्येक स्थिति के लिए तैयार रहना होगा।[२०] पंडित नेहरू ने पहली बार माना कि तिब्बत का मामला हल

नहीं हुआ है, बल्कि वह अभी लम्बा चलेगा। वे चीन के उद्देश्य को तो शायद समझ गए थे लेकिन उसको समझने में उन्हें बहुत देर लगी। इसी कारण चीन अपने उद्देश्य में सफल हो सका। परंतु चीन के उद्देश्य को समझ पाने के बावजूद वे उसका सही तोड़ निकालने के लिए फिर गलत दिशा में भटकने लगे। वे सीमा विवाद को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय में ले जाने के लिए उत्सुक थे। भारत सरकार को इस बात का दुख था कि चीन नेहरू के इस प्रस्ताव को स्वीकार क्यों नहीं कर रहा। भारत सरकार के अनुसार, ''चीन ने प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया कि सीमा के प्रश्न को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय। इसका कारण यही था कि चीन की इस प्रश्न पर वैधानिक स्थिति कमजोर थी।''[२१] चीन के आक्रमण के बाद भी नेहरू समझ नहीं पाए थे कि देश की सीमाओं की रक्षा सैन्य बल से होती है, कानून की धाराओं से नहीं। भारत कश्मीर के मामले में यह धोखा खा चुका था, नेहरू चीन के मामले में भी वही प्रयोग दोहराना चाहते थे।

२९ अक्टूबर १९६२ को चीन के आक्रमण से उत्पन्न हुई स्थिति का विश्लेषण करते हुए श्री गुरुजी ने एक वक्तव्य द्वारा देशवासियों और संघ के स्वयंसेवकों का आह्वान भी किया। इस अवसर पर भी उन्होंने इस आक्रमण के मूल में तिब्बत पर नेहरू की नीति की अव्यवहारिकता को ही जिम्मेदार ठहराया। ' तिब्बत का चीन को समर्पण कर शत्रु को अपने द्वार पर बुलाना तथा अपनी रक्षा की प्राकृतिक प्राचीर हिमालय के अंचल में बेरोक-टोक चीन के प्रवेश को मान्यता देकर अपनी दुर्गम सीमा की उपयुक्ता समाप्त करना, उस अभेद्य क्षेत्र को शत्रु का आश्रय स्थान एवं आक्रमण-प्रक्षेप का गढ बनने देना, भारत के अभिन्न हृदय आत्मीय नेपाल, सिक्किम, भूटान को पूर्णतया विरोधक नहीं तो उदासीन बना सकने वाली अनिष्ट नीति पर चलते रहना आदि नीतियाँ कितनी घातक सिद्ध हुई हैं तथा हो रही हैं, यह अब सुस्पष्ट हो चुका है।[२२]

श्री गुरुजी का दिल्ली में उद्बोधन : मूल कारण तिब्बत – २३ दिसंबर १९६२ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने चीन की भारत व तिब्बत के प्रति नीति के बारे में जनता को जागृत करने के लिए दिल्ली के ऐतिहासिक लालकिला मैदान में एक विशाल जनसभा का आयोजन किया। श्रीगुरुजी सारे देश का भ्रमण करते हुए दिल्ली पहुँचे। उन्होंने इस जनसभा में एक बार फिर भारत सरकार की तिब्बत नीति की आलोचना की। उन्होंने स्पष्ट कहा कि तिब्बत की हत्या होती रही और भारत सरकार चुप–चाप देखती रही। इसका एक कारण यह भी था कि सरकार अंदर से साम्यवादी तत्वों की ओर झुकी हुई थी। '' रूस ने हंगरी की हत्या की , तब हम चुप रहे। चीन ने तिब्बत को खाया, तो हमने स्वायत्त तिब्बत को भुला कर चीनी तिब्बत को मान्यता दी। याने प्रजातन्त्र के खिलाफ लडाई झगडा करने वाले कम्युनिस्ट गुट की ओर हमारी तटस्थता झुकी रही।''[२३]

कुछ लोग यह कहते हुए भारत सरकार के बचाव में उतरे कि 'हिन्दी–चीनी भाई–भाई और पंचशील', दोनों ही परिस्थितियों में भारत सरकार की मंशा ठीक और विश्वशांति को स्थापित करने वाली थी। भारत विश्व शांति के इस प्रयोग में चीन को भी शामिल करने का इच्छुक था क्योंकि चीन लंबे काल तक बुद्ध वचनों को मानता आया है। अब यदि चीन ने विश्वासघात किया है तो इसमें भारत सरकार का क्या दोष है ? श्री गुरुजी ने रामलीला मैदान की जनसभा में प्रत्युत्तर दिया। 'जैसे तिब्बत की स्वायत्तता और स्वातंत्र्य को स्वीकार करके चलना चाहिए, इतना मानने के बाद भी और मानते–मानते उसी समय अपनी सेना को तिब्बत में घुसाकर उसका भक्षण करना (चीन ने) प्रारंभ कर दिया था। चीन ने विश्वासघात किया है, तो वास्तविक रीति से वह उसी समय हो चुका था। चीन सोचता है कि सारे जगत् में कम्युनिस्ट विचार–प्रणाली का राज्य स्थापित करना उसका लक्ष्य है। इसके लिए वह विस्तारवाद के पीछे लगा है। अर्थात् पहले से ही प्रकृति में साम्राज्यवाद की पिपासा और उस पर जगत् भर में कम्युनिस्ट विचारधारा का राज्य प्रस्थापित करने का

मानस, इन दोनों का ही आज चीन में संयोग हो गया है, अर्थात् एक तो करेला, दूजे नीम चढ़ा।' एक बार जब दूध से मुँह जल जाता है तब मनुष्य छाछ भी फूँक–फूँक कर पीता है। एक बार नहीं तो बार–बार जिस चीन ने अपने वचनों को सब प्रकार से अमान्य किया है, तब उसी गर्म दूध को बिना फूँके पीने को तैयार होना, याने चीन से शांति–वार्ता के लिए तैयार होना, इसमें लाभ की संभावना नहीं है। केवल इतना ही नहीं, उसमें से अपने पर बहुत बडा संकट आने की संभावना भी है।'[२४]

१९६३ की विजयदशमी के अवसर पर एकबार फिर तिब्बत का प्रश्न उठाते हुए श्रीगुरुजी ने कहा कि कहा जाता है कि ' चीन के साथ हमारा भाई-चारे का संबंध है। पर उसने तिब्बत हड़पने का महापाप किया। इस पर भी उसका अभिनंदन करने के निकृष्ट स्तर तक पहुँचकर हमने बंधु प्रेम का प्रदर्शन किया, फिर भी हमें मिला क्या?'[२५]

वास्तव में तिब्बत की स्थिति और तिब्बतवासियों पर हो रहा चीनी अत्याचार श्री गुरुजी के हृदय को सदा व्यथित करता रहता था। श्री गुरुजी की दृष्टि में भारत सरकार ने तिब्बत के साथ जो किया वह एक प्रकार से विश्वासघात ही कहा जाएगा और शायद इसी विश्वासघात का परिणाम है कि कालांतर में चीन ने भारत के उत्तरी सीमा को पादाक्रांत ही नहीं किया बल्कि दक्षिण पूर्व एशिया में भारत के सांस्कृतिक प्रवाह को काटने का प्रयास भी किया। एक बार फिर उन्होंने १९६४ में नागपुर के राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विजयदशमी उत्सव में शस्त्रपूजन पर एकत्रित हुए स्वयंसेवकों से अपनी वेदना साँझी की।

'चीन का उदाहरण भी हमारे सामने है। मित्रता की बलिवेदी पर तिब्बत की हत्या होने दी । उसके साथ विश्वासघात किया । हिन्दी–चीनी भाई–भाई, के केवल नारे ही नहीं लगाए, हमने हृदय से उसे सत्य भी माना। किंतु इस भाईचारे का क्या हुआ, सब जानते हैं। आज भी वह चीन सदल–बल उत्तरी सीमा पर खड़ा है।'[२६]

ऐसा नहीं है कि चीन ने भारत पर आक्रमण बिना किसी योजना या तैयारी से कर दिया था, या फिर उन्होंने क्षणिक उत्तेजना अथवा क्रोध के कारण आक्रमण किया। बहुत से चीन समर्थक भारत की 'आगे बढ़ो नीति' की कल्पना करते हैं और उसी के परिणाम स्वरूप १९६२ के युद्ध की व्याख्या करते हैं। स्वाभाविक है उनकी व्याख्या चीन के पक्ष में है। परंतु इसके विपरीत चीन भारत पर हमले की तैयारियाँ १९५० से ही करने लगा था जब उसने तिब्बत पर आक्रमण किया था। तिब्बत भारत की प्रथम रक्षा पंक्ति बन सकती थी लेकिन भारत सरकार ने उसे स्वयं ही ध्वस्त होने दिया। चीन ने अपनी सेना को, खासकर उन सैनिकों को, जिनको भारत के खिलाफ आक्रमण में भाग लेना था मनोवैज्ञानिक तौर पर गहन वैचारिक प्रशिक्षण दिया था। उन्होंने भारतीय भाषाओं के द्विभाषिए तैयार किए थे, जिनको आगे जाकर भारतीय युद्ध बंदियों से बातचीत करनी थी और जिनका वैचारिक युद्ध के लिए उपयोग किया जाना था। नमकचू के आक्रमण में तो चीनी सैनिक चिल्ला-चिल्लाकर भारतीय सैनिकों को हिन्दी में संबोधित कर रहे थे कि भारत सरकार साम्राज्यवादियों की पिट्ठू है और वह भारतीय सेना को बिना किसी कारण के मित्र देश चीन के साथ लड़ा रही है। चीनी सैनिकों ने जिस भारतीय क्षेत्र पर कब्जा किया था, वे वहाँ के लोगों के साथ घुलमिल भी रहे थे, उनकी सहायता भी कर रहे थे और सबसे बढ़कर उन्हें भारत के खिलाफ भड़का भी रहे थे और मार्क्सवादी चेतना के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयास भी करते थे। अरुणाचल प्रदेश में बोमडीला से नीचे और भालुकपोंग से कुछ आगे ऐतिहासिक ग्राम रूपा स्थित है। १९६२ में यह गाँव भी चीन के कब्जे में आ गया था। रूपा शेरदुकपेन कबीले का प्रमुख गाँव है। रूपा के आर. के. खिरमे जो बाद में लोकसभा के सदस्य भी रहे, अरुणाचल प्रदेश में १५ वर्षों से भी ज्यादा समय तक विभिन्न विभागों के मंत्री रहे और आजकल विधानसभा के सदस्य हैं, उस काल का स्मरण करते हुए कहते हैं, "मैं उस समय किशोर ही था। हमारा गाँव चीनी सैनिकों के कब्जे में था। सैनिकों ने गाँव वालों को तंग नहीं

किया, बल्कि वे मनोवैज्ञानिक तौर पर हमें यह समझाने का प्रयास करते रहते थे कि हम भारतीय नहीं, बल्कि चीनी हैं। सैनिक खेतों में किसानों की मदद करते थे और शाम को सांस्कृतिक कार्यक्रम के लिए सारे गाँव वालों को एकत्रित करते थे। वहाँ वे भारतीय युद्ध बंदियों को भी ले आते थे। ये युद्ध बंदी प्रायः पंजाब के होते थे। महीनों से बिना नहाए होने के कारण, खुले और उलझे बालों और लंबे कद के कारण वे सब गाँव वालों से अलग ही दिखाई देते थे। चीनी सैनिक इन भारतीय सैनिकों के साथ खड़े हो जाते थे और हम ग्राम वासियों से पूछते थे कि यहाँ चीनी और भारतीय दोनों ही खड़े हैं। आपकी शक्लें चीनियों से मिलती हैं या भारतीयों से? आपका खानपान किससे मिलता है?''[२७] जाहिर है चीन की रणनीति लम्बी थी।

१९६२ के युद्ध का पटाक्षेप – चीन द्वारा सिक्किम पर कब्जा करने का प्रयासः–माओ ने तिब्बत को हथेली बताया था और नेपाल, भूटान, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश और लद्दाख को उसकी पाँच उँगलियाँ। हथेली पर चीन ने कब्जा कर लिया था अब वह उंगलियों की ओर बढ़ रहा था। उसने देख लिया था कि हथेली यानी तिब्बत पर कब्जा जमाने में भारत ने विरोध नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष सहायता ही की थी। उसके बाद उसने १९६२ में भारत को भी सबक सिखा दिया था। माओ ने अपनी लाल किताब में किसी स्थान पर लिखा है कि ज्ञान तो पुस्तकों से अर्जित किया जा सकता है लेकिन युद्ध कला सीखने के लिए युद्ध लड़ना ही पड़ता है। युद्ध कला सीखने के लिए रणक्षेत्र ही सबसे बेहतर स्थान है।[२८] १९६२ के युद्ध में चीन को भारतीय युद्धकला की जानकारी भी मिल गई और साथ ही साथ भारतीय सेना की तैयारी का एक अंदाजा भी। इसी नीति को अपनाते हुए उसने पाँच साल बाद एक बार फिर सिक्किम में यही रणनीति अपनाने का प्रयास किया। सिक्किम को वह पहले ही हथेली की उँगली घोषित कर चुका था। अब उसने सितम्बर १९६७ में उस उँगली पर कब्जा जमा लेने के लिए प्रयोग किया।

परंतु भारत और तिब्बत सीमा पर (जिसे आजकल भारत–चीन सीमा कहा जाता है) १९६२ वाली स्थिति नहीं है। १९६२ में भारत सरकार मानसिक रूप से चीन का सामना करने के लिएँ तैयार नहीं थी और इसलिए उसने सेना को भी उसके लिए तैयार नहीं किया था। परंतु १९६२ के बाद स्थिति तेजी से बदली है। सितंबर १९६७ में चीन ने नाथुला में सीमा का अतिक्रमण करने का प्रयास किया । उसने बड़ी संख्या में चीनी सैनिक इस अभियान में झोंक दिए थे। दोनों ओर से भारी आर्टिलरी फायर होता रहा। भारतीय सेना के जबरदस्त जवाब के कारण चीनी आक्रमण असफल ही नहीं हुआ बल्कि उसकी कमांड पोस्ट भी ध्वस्त कर दी गई। मरने वाले चीनी सैनिकों की संख्या भी मृतक भारतीय सैनिकों से लगभग दोगुनी थी। ७ सितंबर से लेकर १३ सितंबर तक हुई इस गोलाबारी में चीन की जनमुक्ति सेना को जल्दी ही समझ आ गया कि भारतीय सेना १९६२ की पराजय के सदमे से उभर ही नहीं चुकी है, बल्कि प्रतिकार की मानसिकता में भी है। १९६२ के चीन के एक तरफा युद्ध विराम के अनुरूप ही १२ सितंबर १९६७ को जब भारत ने चीन को युद्ध विराम का प्रस्ताव भेजा तो चीन ने उत्तर तो नहीं दिया लेकिन उसकी बंदूकों की आवाज बंद हो गई। जाहिर है उसके पास इस युद्ध विराम को स्वीकार करने के अलावा कोई विकल्प नहीं था।



चतुर्थ अध्याय

क्या दिल्ली ग्यालपो अब भी आएगा?

यह शायद १९५७ की बात है। शाक्या का एक निम्न मध्यम वर्गीय व्यापारी शिगास्ते गया हुआ था। कुछ दिनों के बाद जब वह वापस अपने गाँव शाक्या आया तो उसने शिगास्ते में प्रचलित एक आशावादी खबर गाँव के लोगों को बताई। दिल्ली ग्यालपो जल्दी ही ल्हासा आ रहा है और वह तिब्बत और चीन के बीच संधि करवाएगा। तिब्बत चीन के अत्याचारों से कराह रहा था। बचने का कोई रास्ता दिखाई नहीं देता था। ऐसे में दिल्ली ग्यालपो के आने की खबर से शाक्या के सभी तिब्बती प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। तिब्बत के बचने का अभी भी एक रास्ता था और वह था दिल्ली ग्यालपो। तिब्बती भाषा में ग्यालपो का अर्थ है राजा। जिस दिल्ली के राजा की तिब्बत के लोग बेचैनी से प्रतीक्षा कर रहे थे, वह पंडित नेहरू थे। उन्हें दलाई लामा ने तिब्बत आने के लिए निमंत्रित किया था। उस तिब्बती व्यापारी, जो दिल्ली ग्यालपो के आने की खबर लेकर आया था, के भाई प्रो. दावा नोरबु[1] ने बहुत बाद में लिखा," नेहरू शायद बाहरी विश्व के एक मात्र राजनीतिज्ञ थे जिन्हें सामान्य तिब्बती भी जानते थे। मुझे स्मरण है, शाक्या में मैंने एक व्यापारी के घर में नेहरू के सम्मान पूर्वक ढंग से रखे हुए चित्र देखे थे। मेरे यह पूछने पर कि यह कौन है, उसने बताया कि जिस प्रकार अपने समय में शाक्या पंडित विश्व के

सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति थे, उसी प्रकार नेहरू इस समय विश्व के सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति हैं। वे (विश्व के सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति) तिब्बत में आ रहे हैं, यह हमारे लिए प्रसन्न करने वाली सूचना थी। हमें आशा थी कि वे हमारे रक्षक सिद्ध होंगे और चीनी मुक्ति से, हम तिब्बती जिस गहरे संकट में फँस गए थे, उसमें से हमें निकालेंगे। वे हमारी एकमात्र आशा थे।''[२] दलाई लामा जब १९५६ में बुद्ध जयंती उत्सव में भाग लेने के लिए भारत आये थे, तो उन्होंने पंडित नेहरू को तिब्बत आने का निमंत्रण दिया था जिसे उन्होंने स्वीकार भी कर लिया था। अब दलाई लामा भी नेहरू की निकट भविष्य में होने वाली इसी यात्रा पर उम्मीद लगाए बैठे थे। दुर्भाग्य से न तो तिब्बत के लोगों की और न ही दलाई लामा की आशा पूरी हुई क्योंकि ''ऐन आखिरी पल चीनी अधिकारियों ने सुरक्षा का बहाना बना कर (नेहरू की तिब्बत यात्रा को) रद्द कर दिया।''[३] चीन ने नेहरू को तिब्बत आने की अनुमति नहीं दी।

तिब्बत को भारतीयों का समर्थन – जिस समय चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया उस समय भारत सरकार ने भले ही प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से चीन का समर्थन ही किया हो, लेकिन भारतीय जनता तिब्बत के पक्ष में एक जुट खड़ी दिखाई दी। कलकत्ता में सोसायटी फॉर डिफैंस ऑफ फ्रीडम इन एशिया ने १९५३ में एक तिब्बत कमेटी का गठन किया और सितम्बर मास में देश भर में तिब्बत दिवस मनाया गया। तिब्बत कमेटी की ओर से दिल्ली में एक विचार गोष्ठी हुई और चीन के दूतावास तक अस्सी के लगभग बुद्धिजीवियों ने तिब्बत पर चीनी आक्रमण के विरोध में प्रदर्शन भी किया।[४] पंडित जवाहर लाल नेहरू तिब्बत के मामले में चीन के इतने पक्षधर हो गये थे कि इस प्रश्न पर वे विरोध का एक शब्द भी सुनने को तैयार नहीं थे। तिब्बत के पक्ष में हुए इस प्रदर्शन को लेकर उन्होंने राज्यसभा में जिस प्रकार की प्रतिक्रिया की और जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया वह आश्चर्यजनक तो थी ही, साथ ही उस समय की उनकी मानसिकता को भी प्रकट करती थी। २३ सितम्बर को राज्यसभा में विदेशी मामलों पर बोलते हुए उन्होंने बहुत

तल्ख लहजे में कहा–" कभी–कभी कुछ पूंजीपति किस्म के लोग मित्र देशों के खिलाफ प्रदर्शन करते हैं। मुझे खुशी है कि वे ऐसा कभी–कभी करते हैं, आमतौर पर नहीं। तीन या चार लोगों का यह दिखावटी समूह इस ढंग से अपनी इच्छाओं का प्रदर्शन करता है। कुछ दिन पहले, जो उन्हें पसन्द नहीं है (चीन द्वारा तिब्बत को हथियाना) उसके लिए उन्होंने चीन सरकार के खिलाफ प्रदर्शन किया। वैसे तो यह छोटी सी बात है परन्तु मैं इसका उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि मुझे पता चला है कि इस सम्मानित सदन का एक सदस्य भी इससे जुड़ा हुआ था। वे तिब्बत दिवस की घोषणा करते हैं। यह मुझे समझ नहीं आता कि तिब्बत दिवस मनाने का क्या तुक है ? खासकर इस समय। वह कौन अकलमंद था, जिसने इसका सुझाव दिया या फिर यह विचार किस के दिमाग की उपज था, मुझे नहीं पता। पर चलिए, यहाँ लगभग दस दिन पहले तिब्बत दिवस मनाया गया था। किसी ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। दर्जन या दो दर्जन लोग तिब्बत के प्रति अपना प्यार जताने के लिए दिल्ली की गलियों में मार्च करते रहे और फिर मार्च करते–करते चीनी दूतावास पर पहुँचे और वहाँ चिल्ला–चिल्ला कर प्रदर्शन किया। यह सब बचकाना व्यवहार है। उम्र में बड़े लोगों को इस प्रकार से व्यवहार नहीं करना चाहिये। वैसे भी कुछ दर्जन लोग ऐसा करते हैं तो उससे सशक्त जनमत की अभिव्यक्ति नहीं होती। इससे तो दरअसल इन लोगों का अपना टुच्चापन और मूर्खता जाहिर होती है। मैं इसका उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि यह सचमुच हास्यस्पद है। यदि कोई हमारा विरोध करना चाहता है, तर्क से, वाद विवाद से या फिर गालियों में भी, मुझे कोई आपति नहीं है। लेकिन यदि वे एक निश्चित सीमा से आगे जाता है तो किसी भी सरकार को कार्यवाही करनी ही होगी। हम आमतौर पर कोई कार्यवाही नहीं करते और हमने की भी नहीं। लेकिन मैं इस सदन को बताना चाहता हूँ कि उसे इस प्रकार की गतिविधियों के उग्रवाद, या जैसा कि मैंने कहा है कि मूर्खता पर विचार करना चाहिये। मुझे पता है कि सदन के सदस्य इस प्रकार के प्रदर्शनों को कोई महत्व नहीं देते

परन्तु दुनिया के दूसरे देश भी हैं जो इन प्रदर्शनों को बढ़ा–चढ़ा कर बताने में ही रुचि रखते हैं। इसलिए यह प्रदर्शन, जब हम अन्य देशों से मित्रता पूर्ण सहयोग की भावना विकसित करने जैसे संवेदनशील मसलों पर बातचीत करते हैं तो संकट पैदा होता है।''[५]

१९५९ में जब तिब्बत में चीन के खिलाफ जन विद्रोह हुआ और चीन के सभी प्रकार के अवरोधों के बावजूद दलाई लामा भारत पहुँच गए तो भारतीय जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया। पंडित नेहरू ने दलाई लामा और उनके साथियों को शरण तो दी परंतु उनकी राजनीतिक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगा दिया, जबकि तिब्बतियों के तिब्बत से भागने का एक प्रमुख कारण ही स्वतंत्रता संग्राम को जारी रखना था। स्वाभाविक ही भारत की आम जनता तिब्बतियों के साथ थी। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में ३०–३१ मई १९५९ को कोलकाता में अखिल भारतीय तिब्बत सम्मेलन किया गया और ३ जून को इसी प्रकार का सम्मेलन चेन्नई में किया गया। इन सम्मेलनों में साम्यवादियों को छोड़कर शेष सभी वर्गों के लोगों ने उत्साह से भाग लिया। ये सम्मेलन एक प्रकार से भारतीय जन मानस का प्रतिनिधित्व करते थे। कोलकाता में भारतीय पक्ष को अभिव्यक्ति देते हुए जयप्रकाश नारायण ने कहा–''क्या तिब्बत सदा के लिए समाप्त हो गया है? मैं हजार बार कहूँगा नहीं, नहीं। मनुष्य की आत्मा की कभी मृत्यु नहीं होती। इसलिए तिब्बत कभी नहीं मरेगा। कम्युनिज्म सफल नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य सदा के लिए गुलाम बनकर नहीं रह सकता। अत्याचारी शासन आए और समाप्त हो गए। सीजर और जार जैसे तानाशाह भी आए और चले गए। परंतु मनुष्य के भीतर की चेतना निरंतर प्रवहमान रहती है। तिब्बत एक दिन फिर उठ खड़ा होगा।''[६]

भारतीय जनसंघ का प्रस्ताव–८ जुलाई, १९५९ को भारतीय जनसंघ ने पुणे में अपनी प्रतिनिधि सभा में प्रस्ताव परित किया–''ऐसा प्रतीत होता है कि तिब्बत पर जो विपत्ति आई, उसके लिए भारत भी दोषी है। सच तो यह है कि नेहरू सरकार की दुर्बल नीति के कारण ही कम्युनिस्ट चीन को तिब्बत

के प्रति आक्रामक नीति अपनाने का बढ़ावा मिला। एक बड़ी आक्रामक सैन्य शक्ति ठीक भारत की उत्तरी सीमा पर आ बैठी और स्वयं भारत की सुरक्षा के लिए खतरा पैदा हो गया।

भारतीय जनसंघ महसूस करता है कि भारत का यह नैतिक दायित्व है कि तिब्बत के संबंध में अपनी पिछली भूलों को सुधारे और इसके लिए भारत तत्काल ऐसे प्रभावशाली कदम उठाये जिससे तिब्बत पर चीन का हमला खत्म हो , वहाँ कब्जा जमानेवाली चीनी फौजें वहाँ से हट जायें और तिब्बत की आजादी सुरक्षित रहे। इस उद्देश्य से भारतीय जनसंघ निम्नलिखित सुझाव रखता है–

१. भारत स्वयं संयुक्त राष्ट्र संघ में इस प्रस्ताव का श्री गणेश करे कि वह तिब्बत का मामला अपने हाथों में ले। सच तो यह है कि एक वर्ष पूर्व जब चीन ने तिब्बत पर हमला किया था तब तिब्बत का सवाल संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाया गया था। लेकिन तब भारत के आग्रह करने और जोर देने पर इस सवाल को ताक पर रख दिया गया। इस प्रकार मामला खत्म सा हो गया। अब क्योंकि तिब्बत की स्वायत्तता का आदर करने के अपने वादे से चीन मुकर गया है और उसकी बातों पर यकीन नहीं किया जा सकता, अतः यह दायित्व भारत का है कि अब वह स्वयं इस सवाल को संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाये।

२. भारत को एशिया के स्वतंत्र देशों (जो कम्युनिस्ट शिविर से बाहर हैं) से तिब्बत पर चीनी आक्रमण के संबंध में बातचीत करनी चाहिये जिससे वे सब भारत के साथ तिब्बत की आजादी का समर्थन करें। तिब्बत पर चीन के हमले के बाद पूर्वी एशिया में आशंकाएँ बढ़ी हैं और वहाँ ऐसा महसूस किया जाने लगा है कि तिब्बत पर चीन का कब्जा उसके साम्राज्यवादी विस्तार की इच्छा का प्रतीक–स्वरूप पहला कदम है। एशिया के स्वतंत्र देश यदि अपना विरोध प्रकट करने

के लिए एक होते हैं तो कम्युनिस्ट चीन के निर्मम और उच्चाभिलाषी शासकों पर भी कुछ असर पड़ेगा और हो सकता है कि इतना विलंब हो जाने के बाद भी चीन एशियाई जनमत की ओर कुछ ध्यान देकर अपनी हमलावर कार्रवाइयों को रोक दे।

३. इस बीच परम पावन दलाई लामा को भारत में तिब्बत सरकार के मुखिया के रूप में राजनीतिक मंच पर काम करने की पूरी सुविधाएँ दी जानी चाहिये। यदि तिब्बत की आजादी के लिए काम करना और उसे प्राप्त करवाना है तो उन्हें सिर्फ शरण देने, केवल आध्यात्मिक हैसियत से काम करने तथा अन्य दृष्टियों से जबरन अवकाश ग्रहण करने की स्थिति में डाल देने से काम नहीं चलेगा, बल्कि उन्हें तिब्बत की आजादी के लिए काम करने की छूट दी जानी चाहिये।

अनेक अन्य बातों के अतिरिक्त केवल भारत की सुरक्षा की दृष्टि से विचार करने पर भी यह आवश्यक है कि चीन तिब्बत से हट जाये और तिब्बत स्वतंत्र बने। अतः भारत को तिब्बत की आजादी के लिए सभी प्रयत्न करने चाहिये।[७]

आचार्य रघुवीर की तिब्बत पीड़ा – भोपाल में ३० दिसम्बर, १९६२ को भारतीय जन संघ का दशम् अखिल भारतीय अधिवेशन एक प्रकार से तिब्बत की स्वतंत्रता और चीन की भूमिका को ही समर्पित था। जनसंघ के अध्यक्ष आचार्य रघुवीर चीनी और तिब्बती मसलों के स्वयं भी अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् थे। अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में भारत–तिब्बत और चीन के संबंधों की उन्होंने विशद् व्याख्या की। उन्होंने कहा, ''हमारा सबसे बड़ा शत्रु चीन है। वह ही हमारा बड़ा पड़ोसी है। कल तक हमने उसको अपना मित्र माना था, आज वह आक्रांता बन कर सीमा के अन्दर खड़ा है। चीन का मूल प्रदेश हान प्रदेश है। इसका क्षेत्रफल वही है जो भारत का है। अनेक शताब्दियों से चीनी साम्राज्यवादी अपने क्षेत्रफल को बढ़ाते आए हैं। उनका सिद्धान्त रहा

है कि जिस किसी ने चीन पर राज्य किया, उस पर हम राज्य करेंगे। चीन पर तुर्क, मंगोल और मंचू ज़ातियों ने शताब्दियों तक राज्य किया। जैसे ही इनका साम्राज्य समाप्त हुआ चीन ने इनके प्रदेशों को अपने में हड़प कर लिया। तिब्बत का क्षेत्रफल ७.७ लाख वर्गमील है, पूर्वी तुर्किस्तान का क्षेत्रफल ६ लाख वर्गमील है, आभ्यंतर मंगोलिया का क्षेत्रफल ४.५ लाख वर्गमील है, मंचू देश का क्षेत्रफल ३ लाख वर्गमील है। इन सब पराधीन किए हुए प्रदेशों के २१ लाख वर्गमील को मिला कर ही चीन का क्षेत्रफल भारत से ३ गुणा अर्थात् ३६ लाख वर्गमील बनता है।............................सांस्कृतिक दृष्टि से तिब्बत के लोग कभी चीन के साथी नहीं रहे।'' इसके उपरान्त आचार्य रघुवीर ने भारत को उसके कर्तव्य की याद दिलाई, ''प्रकृति ने हम को एशिया के दक्षिण में केन्द्रीय स्थान दिया है। आदिकाल से भारत, दक्षिण एशिया का हृदय रहा है। दक्षिण और पूर्व अफ्रीका एवं अदन और तुर्की से लेकर मलाया द्वीपान्तर और फिलीपाइन्स तक हमारा व्यापार और सांस्कृतिक संबंध रहे हैं। दक्षिण एशिया में अर्थात् यों कहिए कि समस्त विश्व में भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जिसको चीन के नए साम्राज्यवाद का सामना कर सकना चाहिए। यह साम्राज्यवाद फैलने न पाए, छोटे–छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता लुटने न पाए, यह देखना भारत का दायित्व है।''[८]

निर्वासित तिब्बती सरकार को मान्यता का प्रस्ताव – पंडित जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद ऐसा लगने लगा कि तिब्बत को लेकर भारत सरकार की नीति में मौलिक परिवर्तन हो रहा है। लाल बहादुर शास्त्री नए प्रधानमंत्री बने। कांग्रेस के भीतर भी ऐसा माना जाता था कि वे समाजवादी धड़े के न होकर राष्ट्रवादी धड़े का प्रतिनिधित्व करते हैं। पुरुषोत्तम दास टंडन के त्याग पत्र के बाद ऐसा लगने लगा था कि कांग्रेस पर पूरी तरह नेहरू के नेतृत्व में समाजवादियों–साम्यवादियों का कब्जा हो चुका है। लेकिन लाल बहादुर शास्त्री के प्रधानमंत्री बनने से एक बार फिर कांग्रेस के भीतर राष्ट्रवादी खेमे को बल मिला। इसके साथ ही तिब्बत के लोगों की आशाएं भी जागृत

हुईं। शास्त्री के कार्यकाल में तिब्बत को लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ में १९६५ को बहस हुई। पहली बार संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत के प्रतिनिधि रफीक जकरिया न केवल तिब्बत के पक्ष में बोले बल्कि भारत ने तिब्बत के पक्ष में मतदान भी किया। रफीक जकरिया ने एक-एक करके तिब्बत में चीनी अत्याचारों की गणना की। ''तिब्बत के प्रति चीन की नीति से संबंधित ये तथ्य ऐसे हैं जिन्हें किसी भी आधार पर झुठलाया नहीं जा सकता। ये तथ्य हैं-

१) तिब्बत व चीन के बीच १९५१ में जो समझौता हुआ था, उसका बिल्कुल पालन नहीं किया गया और वह मृतप्राय रहा।

२) चीन ने अपने सैन्य बल से तिब्ब्त की स्वायत्तता का पूरी तरह गला घोंट दिया।

३) तिब्बती मंदिरों, नागरिकों तथा तिब्बत के सरकारी संस्थानों की सम्पत्ति को जबरदस्ती हथिया लिया गया।

४) तिब्बतियों की धार्मिक स्वतंत्रता को नष्ट कर दिया गया तथा बौद्ध धर्म, लामा व्यवस्था, मंदिरों, तीर्थ स्थलों और महत्वपूर्ण भवनों को नष्ट किया जा रहा है।

५) तिब्बतियों को किसी भी तरह की जानकारी प्राप्त करने या अपने विचार प्रकट करने की आजादी नहीं दी गई है।

६) ऐसे तिब्बतियों की, जो तिब्बत पर चीनी शासन के विरोध में सक्रिय रूप से काम करते रहे हैं, हत्या करने, उन्हें जेल में डालने और इलाकाबदर करने की योजनाबद्ध नीति अपनाई गई है।

७) चीन द्वारा भारी संख्या में तिब्बती बच्चों को तिब्बत से चीन ले जाया जा रहा है जिससे उनकी राष्ट्रीय भावनाओं को समाप्त किया जा सके, इन्हें चीनी विचारधारा के सांचे में ढाला जा सके और उनके दिलों से तिब्बती धर्म, संस्कृति और जीवन पद्धति को मिटाया जा सके।

८) इसी तरह तिब्बत में भारी संख्या में चीनियों को बसाया जा रहा है

जिससे पूरे तिब्बत का चीनीकरण किया जा सके और तिब्बती जनता के मुकाबले वहाँ की जनसंख्या में चीनी जनसंख्या को बढ़ाया जा सके।

तिब्बती किसानों से उनकी जमीन छीनने और उनकी सम्पत्ति को बाँटे जाने का काम भी तेज होता जा रहा है। बार बार सामंती तत्वों की परिभाषा को विस्तृत किया जा रहा है जिससे कि अधिक से अधिक किसान उस परिभाषा में आ जाएँ। असल में इन तथाकथित भूमि सुधारों का लक्ष्य चीनी सरकार की राजनीतिक चालों को पूरा करना है और अंत में सभी चीनी किसानों को चीनी व्यवस्था के गुलामों में बदलना है। असलियत यह है कि बीजिंग के शासक इस बात पर तुले हुए हैं कि पूरी तिब्बती जाति को नष्ट कर दिया जाय। उनकी तिब्बतियों के प्रति नीति डराने धमकाने की है (और यही नीति औरों के बारे में भी है)। वे दूसरे देशों में क्रांति के निर्यात की नीति की घोषणा करते हैं तथा न केवल युद्ध को अवश्यंभावी मानते हैं, बल्कि उसे आवश्यक भी मानते हैं और इस तरह शांति पूर्ण सहअस्तित्व का गला घोंटने की कोशिश करते हैं।''[९] इसमें कोई दो राय नहीं कि शास्त्री सरकार की तिब्बत नीति यथार्थ के ज्यादा नजदीक आ रही थी। पहली बार दिल्ली, तिब्बतियों और भारतीयों की आशाओं के अनुरूप व्यवहार कर रही थी। '' लाल बहादुर शास्त्री तो धर्मशाला की निर्वासित तिब्बती सरकार को मान्यता देने के बारे में भी विचार कर रहे थे कि उनकी आकस्मिक मृत्यु हो गई ''।[१०]

भारतीय जनसंघ ने इसके कुछ काल बाद भी लोकसभा में निर्वासित तिब्बती सरकार को मान्यता देने का मामला उठाया। जनसंघ के सांसद श्रीचंद गोयल ने १९६७ में लोकसभा में एक प्रस्ताव रखकर माँग की कि भारत सरकार धर्मशाला स्थित निर्वासित तिब्बती सरकार को मान्यता दे। ३० जून और १४ जुलाई को दो दिन इस प्रस्ताव पर बहस हुई। श्रीचंद गोयल ने अपने

प्रस्ताव के समर्थन में बोलते हुए कहा–'' हमेशा से चीन का इतिहास विश्वासघात का इतिहास रहा है। तिब्बत के साथ बलात्कार का और भारत के साथ धोखे एवं आघात का इतिहास है। मैं यह समझता हूं कि आज हमें घोषणा करनी चाहिए, बड़े बल के साथ घोषणा करनी होगी कि हम तिब्बत की स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं। तिब्बत एक स्वतंत्र राष्ट्र है। वह अपनी आजादी के लिए छोटी मात्रा में ही क्यों न हो प्रयत्नशील है। हमारे जैसे एक सिद्धांतवादी, आदर्शों पर चलने वाले राष्ट्र को आज उनका साथ देना चाहिए। आज जो दलाई लामा हमारी शरण में आए हुए हैं, उनको वैधानिक शासक स्वीकार करके हमें यह घोषणा करनी चाहिए कि हम संसार के अंदर तिब्बत की आजादी के लिए पग उठाएँगे।''[११]

विद्यार्थी परिषद का तिब्बत आंदोलन – अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद की कार्यसूची में तिब्बत का प्रश्न प्रारंभ से ही रहा है। वास्तव में यह कहना चाहिए कि युवा पीढ़ी में जहाँ एक ओर समाजवादी चिंतक और उनसे जुड़ा हुआ भारत तिब्बत मैत्री संघ तिब्बत प्रसंग को जिलाए हुए था तो दूसरी ओर विद्यार्थी परिषद देश भर के महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में छात्र वर्ग को तिब्बत के प्रसंग पर जोड़ने के अभियान में लगा हुआ था। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के तात्कालिक राष्ट्रीय अध्यक्ष राजकुमार भाटिया के अनुसार '' भारत और चीन के बीच एक 'बफर' राज्य के रूप में तिब्बत की भूमिका बनती है। तिब्ब्त मुख्यतः एक धार्मिक देश है। दलाई लामा वहाँ के धार्मिक एवं राजनीतिक नेता हैं। वहाँ का नेतृत्व आध्यात्मिक लोगों के हाथ में है। मुझे लगता है कि तिब्बत को स्वतंत्रता मिलने के बाद शांति, भाईचारा एवं अध्यात्म इत्यादि को विश्व भर में बल मिलेगा। अहिंसा एवं शांति मानव विकास के लिए जरूरी हैं। तिब्बत की स्वतंत्रता से इन्हें बल मिलेगा।'' राजकुमार भाटिया को इस बात का दुख है कि ''भारत सरकार ने तिब्बत को चीन का ही अंग मान लिया है।'' और वे ये भी मानते हैं कि ''पिछले कुछ वर्षों में तिब्बत की स्वतंत्रता की आवाज तेज हुई है।''[१२] १९९२ में कानपुर

में हुए विद्यार्थी परिषद के राष्ट्रीय अधिवेशन का तो उद्घाटन ही दलाई लामा ने किया था।

विद्यार्थी परिषद ने १३-१४ मार्च, १९९९ में धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश) में ' तिब्बत-भारत की भूमिका ' को लेकर एक राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें तिब्बत पर अद्यतन स्थिति का लेखा-जोखा लिया गया और भविष्य की रणनीति पर भी विचार किया गया। परिषद् के तात्कालिक महामंत्री महेन्द्र पाण्डेय ने देशभर में फैले हुए तिब्बतियों और उनकी प्रतिनिधि संस्थाओं से व्यापक स्तर पर संपर्क किया और इस राष्ट्रीय सम्मेलन की रूपरेखा तैयार की। तिब्बती युवा कांग्रेस ने भी इस सम्मेलन में अपनी सक्रिय भागीदारी निभाई। इस सम्मेलन में दलाई लामा, प्रो. सामदोंग रिम्पोछे, शांता कुमार (पूर्व केन्द्रीय मंत्री), प्रो. प्रेम कुमार धूमल (तत्कालीन मुख्यमंत्री हिमाचल प्रदेश), डा. महेश शर्मा (तत्कालीन सांसद और वर्तमान भाजपा अध्यक्ष राजस्थान) ने भाग लिया। विद्यार्थी परिषद के इस सम्मेलन को संबोधित करते हुए दलाई लामा ने प्रसन्नता व्यक्त की कि 'विद्यार्थी परिषद जैसे प्रगतिशील प्रबुद्ध छात्र आन्दोलन ने तिब्बत के विषय में भारत की भूमिका की चर्चा व इस पर जनमत जागरण का कार्य अपने हाथ में लिया है। १९७८ के मार्च में आयोजित तिब्बत में मानवाधिकारों का हनन विषयक सम्मेलन में मुझे प्रथम बार इस संगठन के कार्यकर्ताओं से विचार-विमर्श का अवसर प्राप्त हुआ था। उनमें से कई आज भी यहाँ हमारे बीच में है। विद्यार्थी परिषद की तिब्बती स्वतंत्रता आंदोलन के प्रति निरन्तरता का इससे बड़ा प्रमाण नहीं मिल सकता। मुझे प्रसन्नता है कि तिब्बत के लोगों की पीड़ा व मुश्किल को राष्ट्रवादी आंदोलन का साथ मिला है। (१३ मार्च १९९९ को विद्यार्थी परिषद के तिब्बत-भारत की भूमिका, सम्मेलन के अवसर पर धर्मशाला में) इस सम्मेलन में विद्यार्थी परिषद् ने सर्वसम्मति से पारित किया-''भारत सरकार का दायित्व है कि वह चीन से तिब्बत के विषय को लेकर बातचीत करे और तिब्बत की स्वतंत्रता के प्रश्न को वैश्विक मंच पर उठाए। १९५४ में तिब्बत

से किए गए विश्वासघात का यही प्रायश्चित है और यह तब तक पूरा नहीं होगा जब तक तिब्बत स्वतंत्र नहीं हो जाता।''

चीनः कल्पना और यथार्थ के बीच का अन्तर – वास्तव में चीन को लेकर पंडित नेहरू के मन में या उस समय की भारत सरकार के मन में अनेक भ्रमपूर्ण मिथ्या कल्पनाएँ थीं। लेकिन ज्यों–ज्यों चीन अपने असली रूप में आने लगा तो उन अवधारणाओं के आगे प्रश्नचिन्ह लगने लगा। साउथ ब्लाक ने जिन अवधारणाओं को यत्नपूर्वक पालापोसा था उनको इस प्रकार टूटते देख कर उसका व्यथित होना स्वभाविक ही था। इसलिए वह उन अवधारणाओं को बचाने के लिए दूसरी मिथ्या कल्पनाओं के स्वरचित मोहक संसार में उलझता गया। परंतु १९६२ के चीनी आक्रमण के बाद इन मोहक कल्पनाओं की रक्षा करने के सभी उपकरण नष्ट होने के कगार पर पहुँच गये। श्रीगुरुजी ने २३ दिसंबर १९६२ को दिल्ली के रामलीला मैदान के ऐतिहासिक उद्बोधन में भारत सरकार को इन कल्पनाओं के रंगीन संसार से बाहर निकलने का आह्वान भी किया और आगे का रास्ता भी सुझाया।'' अब जब हम चीन के बारे में अपनी मिथ्या कल्पनाएँ छोड़ रहे हैं, तब अपनी भूलों को भी ठीक करें। तिब्बत की स्वतंत्रता की घोषणा करें। दलाईलामा की सरकार को मदद करें तो शत्रु को भारतीय सीमा में ही नहीं वरन् तिब्बत की उत्तरी सीमा के उस पार धकेलने में अवश्य सफलता मिलेगी। इसी प्रकार से चीन को नियमित व संयमित किया जा सकता है।''[१३] परंतु दुर्भाग्य से अभी तक भी भारत सरकार चीन से बराबर के स्तर पर निपटने के बजाय उसका तुष्टीकरण के माध्यम से समाधान करने में लगी हुई है।

तिब्बत को लेकर नेहरू की जो नीति थी वह भारतीयों की आकांक्षाओं से मेल नहीं खाती थी बल्कि उसके विपरीत थी। भारतीय संकट की इस घड़ी में तिब्बत के साथ दिखाई देते थे और नेहरू इस मौके पर चीन के साथ खड़े दिखाई दे रहे थे। श्री गुरुजी का मत था कि भारत को तिब्बत के स्वतंत्रता संग्राम में तिब्बतियों की पूरी तरह सहायता करनी चाहिए। यह सहायता

प्रकारांतर से भारत की सुरक्षा के काम भी आयेगी। उनका मत था कि किसी भी सरकार की सभी नीतियों के औचित्य की एक ही अंतिम परख है कि उससे देश की सीमा की रक्षा होती है या नहीं ? तिब्बत की स्वतंत्रता से ही भारत का सीमांत सुरक्षित होगा। श्रीगुरुजी के अनुसार,'' मातृभूमि की रक्षा हमारी आंतरिक एवं बाह्य – सभी नीतियों की प्रथम कसौटी हो। यदि इसके लिए हमें अपनी सीमाओं को पार करना आवश्यक हो तो उससे हम जरा भी संकोच न करें। आज दलाईलामा हमारे बीच हैं। तिब्बती जन, अपने देश में चीनी सेनाओं से अभी तक लोहा ले रहे हैं। तिब्बत की मुक्ति के लिए यह तथ्य हमारे पक्ष में है। दलाईलामा को हम उनकी अपनी देशांतर सरकार की स्थापना करके तिब्बत की स्वतंत्रता की घोषणा करने दें। हम उसे अपने देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष चलाने के लिए सभी आवश्यक सहायता दें। बिना स्वाधीन व मैत्रीपूर्ण तिब्बत के हमारी उत्तरी सुरक्षा केवल उपहास मात्र है। किंतु हमारे प्रधानमंत्री कहते हैं यह पग स्पष्ट मूर्खता है। यह समझने में हम असमर्थ हैं कि वे इस प्रकार के उदात्त कार्य का विरोध क्यों करते हैं जिससे दलित जनों की स्वाधीनता प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती है और जो हमारे राष्ट्र की सुरक्षा के दृष्टि से भी अपहरिहार्य है।········· इसके लिए तिब्बत को मुक्त कराना प्रथम सैनिक पग है।,''[१४] श्री गुरुजी ने अपने तर्क के समर्थन में प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र प्रसाद को भी उद्धृत किया जिन्होंने कहा था कि शत्रु के प्रदेश में युद्ध को बिना ले जाये हम अपनी सीमाओं की रक्षा की आशा नहीं कर सकते।[१५]

श्री गुरुजी की दृष्टि में जो लोग हल्ला मचाते हैं कि चीन ने भारत के साथ विश्वासघात किया वे वास्तव में अपनी मूर्खता और कायरता को छुपाने का ही उपक्रम कर रहे हैं। वास्तव में चीन पर विश्वास करना ही मूर्खता पूर्ण था। उनकी दृष्टि में यदि किसी ने किसी के साथ विश्वासघात किया है तो भारत ने तिब्बत के साथ किया है और इसका प्रायश्चित यही है कि भारत तिब्बत को चीन के शिंकंजे से मुक्त करवाने का संकल्प ले। ''चीन का मामला ही

लीजिए। दो सहस्रों वर्षों से अधिक काल से, जब से बौद्ध प्रभाव ने चीन में प्रवेश किया था, इन दो देशों के विद्वानों के बीच नियमित साहचर्य और भ्रातृभाव रहा। हमारे वर्तमान नेताओं ने मानो उसी सूत्र को पकड़ कर हिन्दी-चीनी भाई-भाई का उद्घोष किया। उन्होंने इस नीति का पालन तिब्बत के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व को परित्याग करने तक किया। केवल इतना ही नहीं, एक प्रकार से हमने सर्वभक्षी चीन के सामने थाली में रख कर तिब्बत भेंट कर दिया। वास्तव में हमने तिब्बत के साथ विश्वासघात किया। सत्य तो यह है कि चीन ने हमारे साथ विश्वासघात नहीं किया क्योंकि उसमें हमारे विश्वास का कभी प्रश्न नहीं था। इसके विपरीत हमने तिब्बत के उस विश्वास के साथ धोखा किया, जो उसने हमारे ऊपर किया था। हमने एक बडा पाप किया है। ईश्वर ही जाने हमें इसका किस प्रकार से प्रायश्चित करना होगा ? हमने यह पाप केवल चीन को भाई पुकारने के लिए ही किया है। इस सीमा तक हमने चीन के साथ भ्रातृभाव की स्थापना की पर हमारे इस भ्रातृभाव का उत्तर उसकी ओर से कैसे दिया गया? हमारी सीमा पर आक्रमण के द्वारा।''[१६]

जन जागरण ही एक मात्र उपाय – लेकिन मुख्य प्रश्न यह है कि तिब्बत के प्रश्न पर भारत सरकार और भारतीय जनमानस का धरातल अलग क्यों है? नौकरशाही या विदेशी सरकार के समय में तो ऐसा सम्भव है, लेकिन लोकतांत्रिक पद्धति में, लोक और सरकार की किसी प्रश्न पर परस्पर विपरीत अवधारणा कैसे सम्भव है? परन्तु दुर्भाग्य से तिब्बत के प्रश्न पर ऐसा ही हो रहा है। क्या लोकतांत्रिक व्यवस्था में कोई सरकार लंबे समय तक जनभावनाओं व जन आकांक्षाओं के विपरीत जा सकती है ? तानाशाही या साम्यवादी व्यवस्था में तो ऐसा संभव है, लेकिन लोकतंत्र में लंबे काल के लिए ऐसा संभव नहीं है। इसका समाधान कैसे हो ? जनमानस को सबल बनाना ही एक मात्र उपाय है। इतना सबल, जितना वह कश्मीर के मुद्दे पर है। भारत की कोई भी सरकार कश्मीर का कोई भी हिस्सा पाकिस्तान को देकर पदासीन नहीं रह सकती। तिब्बत के प्रश्न पर भी जनमानस को इतना ही सबल बनाना होगा।

तिब्बत की स्वतंत्रता से भारत के उत्तरी सीमान्त की सुरक्षा जुड़ी है। अतः इस प्रश्न पर राष्ट्रीय जन जागरण अभियान की आवश्यकता है। श्रीगुरुजी ने पिछली शती के छठे दशक में हीं , जब तिब्बत की समस्या भारत सरकार की कार्यसूची पर चाहे अनचाहे प्रमुखता से रहती ही थी , कह दिया था कि इसका समाधान जन जागरण के माध्यम से ही होगा। समाज जागृत हो जाएगा तो कोई भी शासन उसके विपरीत नहीं जा सकता।'' राज्य शासन तो सामयिक शक्ति है। जनशक्ति ही स्थायी हुआ करती है। यह जनशक्ति यदि जागृत रही तो पंडित नेहरू भी उसके विरुद्ध नहीं जा सकेंगे। वे उसे मान्य करेंगे।''[१७]

तिब्बत को लेकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का निरन्तर अभियान– राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तिब्बत के प्रश्न को व्यापक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखता है। संघ के प्रथम सरसंघचालक श्री गुरुजी से लेकर पंचम सरसंघचालक श्री सुदर्शन जी तक यह निरन्तरता बनी हुई है। तिब्बत का प्रश्न आज भी संघ की प्राथमिक कार्यसूची में है लेकिन संघ की दृष्टि में इसका समाधान एक ही है, भारत का शक्तिशाली एवं सामर्थ्यवान होना, क्योंकि शक्तिशाली भारत ही पड़ोसी देशों की संकट काल में सुरक्षा का उत्तरदायित्व निभा सकता है। प्रोफेसर बजरंग लाल गुप्त (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उत्तरक्षेत्रीय संघचालक) अवश्य ही एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाते हैं– तिब्बत के लोगों को तिब्बत के भीतर भी स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करने होंगे।[१८] यह प्रश्न प्रासंगिक है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पूरे एशिया में जिस पौर्वात्य संस्कृति को आधारभूत मानकर चलता है, उसकी रक्षा एवं संवर्धन के लिए उसके घटकों को निश्चय ही भौतिकवादी विचारधारा (साम्यवाद+पूँजीवाद) से सामूहिक एवं व्यक्तिगत स्तर पर लड़ना होगा। तिब्बत में लोग ऐसा ही कर रहे हैं । इतने चीनी अत्याचारों के बावजूद उन्होंने अपनी सांस्कृतिक पहचान एवं राष्ट्रीय अस्मिता को नकारा नहीं है। थोड़ी सी ढील मिलने पर ही तिब्बत के मठों में ईंटें लगने लगी हैं। तिब्बत के प्रश्न पर यह परिदृश्य संघ की विचारधारा का ही विस्तार मानना होगा।

दलाई लामा की बालासाहब देवरस से भेंट – २५–२७ जनवरी, १९७९ में प्रयाग राज में विश्व हिन्दू परिषद् की ओर से द्वितीय विश्व हिन्दू सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक बालासाहब देवरस और दलाई लामा दोनों ही उपस्थित थे। सम्मेलन का उद्घाटन दलाई लामा जी ने किया। भारत और तिब्बत के द्विपक्षीय संबंधों में यह एक ऐतिहासिक घटना थी। दलाई लामा के अनुसार, ''तिब्बत में विकसित बौद्ध धर्म मूलतः भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्तित भारतीय धर्म है, जिसे तिब्बत के लोगों ने सुरक्षित ही नहीं रखा बल्कि उसका विकास भी किया है। देवरस ने अपने भाषण में दो संकेत दिये। प्रथम, कि केवल प्रस्ताव पारित करने से कुछ नहीं होता बल्कि उसके लिए सशक्त जन मत जागृत करना होता है। द्वितीय, पारसियों और यहूदियों, इन दोनों ने संकट काल में भारत में शरण ली और भारतीयों ने इन्हें हर प्रकार की सहायता प्रदान की। १९ देवरस जी के संकेत स्पष्ट थे। तिब्बत के लोगों ने भी संकटकाल में भारत में शरण ली है उनकी सहायता करना भी हमारा कर्त्तव्य है। तिब्बत के मामले में भारत में सशक्त जन मत जागृत करना ही विकल्प था।

प्रो. राजेन्द्र सिंह की तिब्बत पर चिंता – १९९४ में पाञ्चजन्य के संपादक तरुण विजय की पुस्तक–'कैलास–मानसरोवर यात्रा–साक्षात् शिव से संवाद' प्रकाशित हुई। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक प्रो. राजेंद्र सिंह ने इस अवसर पर लिखा,''(पुस्तक से) तिब्बत का स्मरण और हमारी राजनीतिक भूलों के कारण उसका स्वातंत्र्य नष्ट होना हमें अधिक चुभेगा।..... मुझे विश्वास है (पुस्तक) उस दिन को लाने में, जब हम बिना बाधा के कैलाश मानसरोवर की यात्रा कर सकेंगे, सफल होगी।''[२०] प्रो. राजेन्द्र सिंह तिब्बत के मसले को लेकर स्वयं भी अत्यंत संवेदनशील थे। तिब्बती राष्ट्रीय लोकतांत्रिक दल के अध्यक्ष आचार्य यशी फुंछोक संघ के अधिकारियों से तिब्बत की समस्या पर निरंतर संपर्क बनाए रखते थे। उन्होंने हिमाचल प्रदेश और जम्मू–कश्मीर के संघ प्रचारक इन्द्रेश कुमार से भी संपर्क स्थापित किया। इन्द्रेश

कुमार के प्रयत्नों से निर्वासित तिब्बती सरकार और संघ में अनेक मुद्दों पर चर्चा हुईऔर प्रोफेसर राजेन्द्र सिंह की दलाई लामा से भेंट वार्ता हुई। (यह भेंट धर्मशाला में ८ दिसम्बर १९९७ को हुई थी।) इस अवसर पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिमाचल प्रदेश के संघचालक पंडित जगन्नाथ शर्मा भी उपस्थित थे। दलाई लामा ने '' भारत की सुरक्षा के संदर्भ में तिब्बत की भौगोलिक स्थिति व दोनों देशों के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संबंधों की चर्चा की ...... और इच्छा व्यक्त की कि भारत तिब्बत पर चीनी अधिकार के प्रति गंभीर रूप से विचार करे क्योंकि यह भारत की सुरक्षा व प्रतिरक्षा के लिए गंभीर संकट है।''[२१] प्रो. राजेन्द्र सिंह ने दलाई लामा द्वारा तिब्बत की स्वतंत्रता के लिए किए जा रहे प्रयासों की सराहना कीऔर उन्हें यह विश्वास दिलाया कि उनके इन प्रयासों में भारतीय पूरी तरह उनके साथ है।[२२] दलाई लामा और तृतीय सरसंघचालक की इस भेंट से तिब्बती जन जागरण अभियान को नई गति मिली।

भारत–तिब्बत सहयोग मंच की स्थापना – २७ सितंबर १९९८ को धर्मशाला में तिब्बती राष्ट्रीय लोकतांत्रिक दल ने अपनी एक कार्यशाला में (यह कार्यशाला अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप की थीऔर इसमें तिब्बती प्रशासन के लोकतंत्रीकरण के उपायों और प्रयासों पर चर्चा की जा रही थी।) राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हिमगिरि प्रांत प्रचारक इन्द्रेश कुमार को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया। वे कुछ सालों से लद्दाख, लाहुल स्पिति और किन्नौर के बौद्धों में विशेष रूप से सक्रिय थे। इसलिए भोट संस्कृति एवं उसकी समस्याओं से भी परिचित थे। तिब्बती राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय संस्थाओं के लोगों के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के किसी वरिष्ठ अधिकारी से रू–ब–रू होने का शायद यह पहला अवसर था। इन्द्रेश जी ने तिब्बत के लोगों को भारत के सहयोग के बारे में आश्वस्त किया। ''चीन का मौलिक चरित्र आतंकवादी एवं साम्राज्यवादी रहा है। आप तिब्बतियों के ऊपर बड़ा जुल्म हुआ है। अभी तक १२ लाख से अधिक लोग तड़पा–तड़पा कर मारे जा चुके

हैं। जोर जबरदस्ती तिब्बती महिलाओं का चीनियों के साथ विवाह करवाया जा रहा है। तिब्बत में आपके सैकड़ों पूजा स्थल चीनियों ने पैरों के नीचे रौंद दिए हैं। मैं आप पर हुए अत्याचारों का इतिहास बताऊँ तो यह छोटा मुँह बड़ी बात होगी, सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा। आपके ऊपर चीनियों ने क्या-क्या अत्याचार किए हैं, क्या-क्या जुल्म किए हैं आप सभी मुझसे अधिक जानते हैं क्योंकि अँग्रेजी में कहावत है, 'जिसने जूता पहना होता है, उसे ही पता होता है कि वह कहाँ चुभ रहा है।' परन्तु चीन से तिब्बत की मुक्ति अवश्यम्भावी है। निर्वासित जीवन बहुत ही चुभन वाला, पीड़ा देने वाला होता है। चीन के बारे में समय-समय पर महान् विभूतियों ने जो कहा है वह आँखों को खोलने वाला है। नेपोलियन बोनापार्ट ने एक सौ पचास वर्ष पूर्व चीनियों के बारे में कहा था- जब वह पीत दैत्य उठेगा, तो मानवता के सामने संकट खड़ा कर देगा। स्वामी विवेकानन्द ने सत्तर वर्ष पूर्व चेतावनी के रूप में कहा था कि अँग्रेजी राज के बाद चीन भारत पर हमला करेगा। इसका अर्थ स्पष्ट निकलता है कि तिब्बत को कुचल दिये जाने के बाद ही यह सम्भव है क्योंकि भारत और चीन के बीच तिब्बत आता है। सरदार पटेल ने ८ नवम्बर १९५० को, जब चीन तिब्बत को हथियाने की कोशिश कर रहा था, कहा-परंपरा से ही शांति प्रिय तिब्बतियों पर बल प्रयोग करना अन्याय है। दुनिया में कोई भी देश तिब्बत जितना शांति प्रिय नहीं है। संघ के द्वितीय सरसंघचालक श्री माधव राव सदाशिव गोलवलकर जी ने चीन के तिब्बत पर हमला करने से पूर्व ही कहा था, हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि बौद्ध चीन पिछले कुछ साल से मर चुका है। रूस ने उसके शरीर में साम्यवाद की आत्मा डाल दी है। श्री गुरुजी के ये शब्द कुछ ही समय पश्चात् सच्चाई के रूप में दिखाई दिये जब चीन ने भारत की सीमाओं पर नंगा जंगी नाच शुरू कर दिया। पूरे विश्व में जोरदार माँग उठनी चाहिये कि चीन को, लामाओं की धरती, शांति और धर्म की धरती, हिम प्रदेश तिब्बत को छोड़ना चाहिये। मेरा यह पूरा विश्वास है कि तिब्बत अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करके रहेगा। भारत की ताकत में तिब्बत की ताकत है,

भारत की इज्जत में तिब्बत की इज्जत है। आप जहाँ भी हैं, अपने हर दुःख में हम लोगों को मदद के लिए तैयार खड़े पाओगे। संघ आपके हर दुख का साथी है।''[२३]

तिब्बती राज्याध्यक्ष दलाई लामा की इससे पूर्व भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अधिकारियों से भेंट होती रही हैं। संघ तिब्बती स्वतंत्रता का पक्षधर है–यह भी जग जाहिर ही है, लेकिन नई तिब्बती राजनैतिक व्यवस्था के उपरांत उभर कर आई नई जीवंत तिब्बती राजनैतिक संस्थाओं व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के गंभीर संवाद का शायद यह पहला अवसर था।''[२४]

इसके एक साल के भीतर ही धर्मशाला में भारत तिब्बत सहयोग मंच की स्थापना (५ मई, १९९९) हुई इसका उद्देश्य हिमालय के पार के विस्तारवादी शत्रु चीन का, भारत और तिब्बत दोनों देशों के लोग मिलकर किस तरह मुकाबला कर सकते हैं और इस अभियान में एक दूसरे की किस प्रकार सहायता कर सकते हैं, इन संभावनाओं का पता लगाना था। इसके साथ ही तिब्बत की आजादी– भारत की सुरक्षा को लेकर देश भर में जनजागरण आंदोलन भी चलाना था। भारत तिब्बत सहयोग मंच की स्थापना से पूर्व जम्मू में सुदर्शन जी (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वर्तमान सरसंघचालक), इंद्रेश कुमार जी (संघ के तत्कालीन हिमगिरी प्रांत प्रचारक) और डा. कुलदीप चंद अग्निहोत्री की एक बैठक भी हुई जिसमें भारत तिब्बत सहयोग मंच के वैचारिक धरातल को पहचाना गया।

बाद में जब भारत तिब्बत सहायोग मंच ने ३० अप्रैल २००० को समस्त भारतीयों की ओर से धर्मशाला में दलाई लामा का अभिनंदन किया तो अपने संदेश में सुदर्शन जी ने कहा कि तिब्बत मुक्ति संघर्ष में सहयोग करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है।'' परम पावन दलाई लामा जी अपनी मातृभूमि तिब्बत को अत्यंत विकट परिस्थितियों में छोड़कर अपनी गुरुभूमि भारत आए थे। उनका उन भीषण परिस्थितियों में भारत आने का प्रसंग विशेष महत्व रखता है। जब चीनी अत्याचारों से धर्म–संस्कृति, परंपरा और समाज

के अस्तित्व पर संकट आया तो वे अपनी गुरुभूमि भारत की शरण में आए। वे अपना घर छोड़कर आए, यह दुःखद है और वे हमारे पास आए, इसका अभिनंदन है। मुझे विश्वास है कि ये दुःखद दिन शीघ्र समाप्त होंगे। परम पावन दलाई लामा धर्म के मार्ग पर चल रहे हैं और धर्म की विजय निश्चित है। यही ईश्वरीय इच्छा है। परम पावन दलाई लामा जी भारत में रहकर तिब्बत मुक्ति संघर्ष का मार्गदर्शन करें, इसके लिए उन्हें हर प्रकार का सहयोग करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है।''[२५]

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के केन्द्रीय अधिकारी और भारत तिब्बत सहयोग मंच के संस्थापक संरक्षक इंद्रेश कुमार के नेतृत्व में तिब्बत के प्रश्न को लेकर एक राष्ट्रीय जनजागरण आंदोलन २०वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में मूर्तरूप लेने लगा। इंद्रेश कुमार ने तिब्बत से जुड़े हुए मुद्दे अत्यंत शिद्दत और प्रतिबद्धता से उठाए।'' तिब्बत के प्रश्न पर केवल आँसू बहा लेने से काम नहीं चलेगा। इस मामले में संबंधित देशों का किरदार भी जनता के सामने आना चाहिए। भारत सरकार की तिब्बत संबंधी नीति पर चर्चा करते हुए हमें एक और पक्ष का भी ध्यान रखना होगा। सरकारों का आचरण तिब्बत के प्रश्न पर चाहे जो भी रहा हो, भारत की सामान्य जनता इस मुद्दे पर तिब्बतवासियों के साथ ही खड़ी दिखाई देती है। इससे किसी सीमा तक भारत सरकार के व्यवहार की क्षतिपूर्ति हो जाती है। तिब्बत को लेकर भारत सरकार के आचरण की भर्त्सना प्रखर देशभक्त, समाजसेवी एवं महान् आध्यात्मिक विभूति श्री माधव राव सदाशिव गोलवलकर जी ने भी की है। शासक पक्ष के कुछ लोगों को छोड़कर, अधिकांश विपक्ष ने पाँचवे और छठे दशक में तिब्बत के प्रश्न पर भारतीय सरकारी पक्ष को नकारा था। परंतु आश्चर्य इस बात का है कि वे सारे लोग जो अभी ताजे-ताजे ही ब्रिटिश उपनिवेशवाद को परास्त करके इन्द्रप्रस्थ लौटे थे, उन्होंने आते ही तिब्बत पर चीनी उपनिवेशवादी नीति और चीनी प्रभुसत्ता के समर्थन के गीत गाने शुरू कर दिए हैं। मैं इस समय इस बहस में भी नहीं पड़ता कि तिब्बत पर चीनी कब्जे के कारण भारतीय सुरक्षा किस

प्रकार खतरे में पड़ गई है, भारत का उत्तरी सीमान्त किस प्रकार नंगा हो गया है। यह एक अलग प्रश्न है, परंतु बहुत महत्वपूर्ण है। हम सब इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि चीन ने सम्पूर्ण हिमालय क्षेत्र में सड़कों का जाल बिछा लिया है। अब अत्यधिक महँगी रेलवे लाईन केवल इसलिए बिछा रहा है कि विकास के नाम पर तिब्बत का चीनीकरण किया जा सके तथा सामरिक सामान तेजी से बीजिंग से हिमालय में लाया जा सके। छः से अधिक हवाई अड्डे व सैनिक छावनियाँ, अनेक मिसाईल उपकरण केन्द्र भारत की सीमा पर स्थापित किए जा चुके हैं। सन् १९५४ से पूर्व इस सीमा पर १०० से १५० तक पुलिस के जवान कानून व्यवस्था हेतु रखे जाते थे, आज हजारों सैनिक तैनात हैं तथा प्रतिदिन करोड़ों रुपया केवल सुरक्षा के नाम पर खर्च हो रहा है। तिब्बती नस्ल को ही समाप्त करने हेतु सन् २०२० तक साठ लाख की जनसंख्या वाले तिब्बत में दो सौ लाख चीनियों को बसाने की षड्यंत्रकारी योजना को अमली जामा पहनाने की शुरुआत हो चुकी है। क्या केवल नैतिक व मानवीय गुण–दोष के आधार पर ही तिब्बत भारत सरकार के समर्थन का हकदार नहीं था? आखिर कोरिया में हम क्या करने गए थे? वहाँ भी हमारी दखलंदाजी का आधार नैतिक ही था। तो हमारे इस नैतिक समर्थन का हकदार क्या कोरिया से ज्यादा तिब्बत नहीं था? ये ऐसे प्रश्न हैं जो इक्कीसवीं शताब्दी में भी अपने उत्तरों की तलाश कर रहे हैं। सोवियत रूस के बिखर जाने के कारण दुनिया में नए शक्ति समीकरण बन रहे हैं। इन नए समीकरणों में भी तिब्बत का प्रश्न अनुत्तरित है। एक बात हमें स्वीकार करनी पड़ेगी, वैसे हमारे स्वीकारने या न स्वीकारने से भी कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि कटु यथार्थ यही है कि तिब्बत के ये प्रश्न भारत की मुँडेर पर ही लटके हुए हैं और भारत को ही इनका उत्तर खोजना होगा।''[२६]

इसके साथ ही इंद्रेश कुमार ने तिब्बत पर चीन के अधिराजत्व या प्रभुसत्ता का प्रश्न भी उठाया। उनके अनुसार '' तिब्बत पर चीन जिस प्रभुसत्ता की बात कर रहा है वह अवधारणा ही अपने आप में सामंतवादी है। संस्कृति

और इतिहास की दृष्टि से दोनों अलग–अलग देश हैं। चीन की पुरानी पुस्तकों में चीनी नगरों की सूची तथा अनेक प्रकार की जानकारी मिलती है। परंतु किसी भी पुस्तक में नगरों/कस्बों की सूची में 'ल्हासा' का नाम नहीं है जो कि तिब्बत की राजधानी है। क्या विश्व इन तथ्यों को जानकर भी अनजान रहेगा। चीन के इतिहास में तिब्बत की नदियों का नाम नहीं है, तिब्बत के पर्वत शिखरों का नाम नहीं है। चीन के इतिहास में कैलाश मानसरोवर का कहीं उल्लेख नहीं है, जबकि तिब्बत के इतिहास की कोई भी पुस्तक कैलाश मानसरोवर के जिक्र के बिना पूरी नहीं होती। भारत से अनेक बौद्ध पंडित चीन में गए। चीन के इतिहास में उन सभी का विस्तार से नामोल्लेख है, लेकिन जो बौद्ध पंडित तिब्बत में गए उनका नाम चीन में आने वाले विद्वानों में शामिल नहीं है। उसमें पद्‌मसंभव का नाम नहीं है, शांतिरक्षित का नाम नहीं है, कमलशील का नाम नहीं है। यदि तिब्ब्त चीन का हिस्सा रहा हुआ होता तो इनका नाम चीनी ऐतिहासिक विवरणों में मिलना चाहिए था। तिब्बत की भाषा का उद्‌गम भारंतीय भाषाएँ और भारतीय लिपियाँ हैं जबकि चीनी भाषा चित्रात्मक है। दोनों भाषाओं का आपस में दूर–दूर तक तालमेल नहीं है। इसलिए चीन का यह दावा कि प्राचीन काल से ही तिब्बत चीन का हिस्सा रहा है, अपने आप में सफेद झूठ है।''[२७]

प्रधानमंत्री की चीन यात्रा से पूर्व प्रधानमंत्री को इन्द्रेश कुमार का पत्र – इन्द्रेश कुमार ने २००३ में भारत के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी को चीन यात्रा के अवसर पर एक पत्र भी लिखा था। उन्होंने लिखा, ''पंडित नेहरू जी की अनेक गलतियों में यह भी एक भारी गलती थी कि उन्होंने तिब्बत को चीन का भूभाग स्वीकार कर लिया। कहते हैं आम आदमी गलती करे तो उसकी सजा उसके परिवार को भुगतनी पड़ती है परंतु बड़ा व्यक्ति गलती करे तो उसकी सजा सदियों तक समाज को भुगतनी पड़ती है। तिब्बत को लेकर की गई नेहरू की यह गलती इसी श्रेणी में आती है। हिन्दी–चीनी भाई–भाई का नारा, चाऊ–माओ की भारत यात्रा, १९५४ में आठ वर्ष के लिए किया

गया पंचशील समझौता आदि में भारतीय नेतृत्व इतना भ्रमित हो गया कि सत्य को समझना तो दूर, उसने चीनी षड्यंत्र के बारे में श्री गुरुजी एवं अन्य अनेक नेताओं की चेतावनियों को सुनना भी ठीक नहीं समझा। आपने स्वयं अनेक बार भारत सरकार को चीन के कुत्सित इरादों के बारे में चेताया, परंतु वहाँ सुनने वाला कौन था।............ चीन से वार्ता करते समय भावनाओं, श्रद्धा में नहीं बह जाना चाहिए। चीन पर सहज में ही विश्वास नहीं किया जा सकता। ....इसलिए भारत को भी इस स्तर पर चीन से अत्यंत सावधानी पूर्वक व्यवहार करना होगा। चीन से भारत की बातचीत में यह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संदेश मिलना चाहिए कि भारत अपने हितों के साथ–साथ हिमालय के अन्य देशों के हितों का भी संरक्षक है।................तिब्बत की निर्वासित सरकार के प्रतिनिधि व चीन के बीच वार्तालाप चल रहा है। दलाई लामा जी ने मध्य मार्ग चुना है ताकि तिब्बत समस्या का समाधान निकले। हमें उसके लिए दवाब बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।''[२८]

नागपुर में निर्वासित तिब्बती सरकार के प्रधानमंत्री आमंत्रित – राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जिन पाँच उत्सवों को आधिकारिक तौर पर मनाता है उसमें विजयदशमी सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि विजयदशमी के दिन ही संघ की स्थापना हुई थी। इसलिए प्रत्येक वर्ष विजयदशमी के दिन नागपुर में संघ की ओर से उत्सव आयोजित किया जाता है। २००२ में इस उत्सव में मुख्य अतिथि के तौर पर निर्वासित तिब्बती सरकार के प्रधानमंत्री प्रो. सामदोंग रिम्पोछे को निमंत्रित किया गया। तिब्बत को लेकर संघ निरन्तर आन्दोलित है। अपने उद्‌बोधन में सरसंघचालक सुदर्शन जी ने तिब्बत के संबंध में अनेक मुद्‌दों पर स्पष्ट मत व्यक्त किया।

उन्होंने तिब्बत समस्या के समाधान के लिए दलाईलामा द्वारा किए जा रहे प्रयत्नों की प्रशंसा की और उसकी दिशा को उचित ठहराया। ''तिब्बत की निर्वासित सरकार परम पावन दलाईलामा के आध्यात्मिक नेतृत्व में चल रही है। पूज्य दलाई लामा अहिंसात्मक मार्ग से ही चीनियों के मनपरिवर्तन

के लिए अत्यन्त धैर्य के साथ प्रयत्नशील हैं। उनका प्रयत्न उसी श्रेणी में आता है जैसा सन्त एकनाथ का। सन्त एकनाथ स्नान करके नदी से वापिस आ रहे थे। सड़क पर एक हवेली के छज्जे पर बैठे पठान ने उन पर थूक दिया। सन्त एकनाथ बिना कुछ बोले नदी की ओर मुड़ गये और फिर स्नान किया। वापस आते समय फिर वैसा ही हुआ। ऐसा एक सौ आठ बार हुआ और सन्त एकनाथ ने एक सौ आठ बार स्नान किया। अन्त में पठान को ही लज्जा लगी और उसने उनके पास जाकर क्षमा माँगी। परम पावन दलाई लामा ने सन्त का वही मार्ग अपनाया है। पर सन्त एकनाथ के साथ घटी घटना का एक दूसरा पहलू भी है। जब राग द्वेष से परे सन्त एकनाथ पर वह पठान थूक रहा था तो बाकी का सारा समाज याने लोकनाथ क्या कर रहा था? चुप रहकर दुष्ट का ही साहस बढ़ा रहा था। तिब्बत जैसे पूर्णतः अहिंसा के पुजारी देश पर जब अत्याचार चल रहे थे तब बाकी की दुनिया क्या कर रही थी? भारत ने तो अपना दायित्व छोड़ ही दिया था।''[२९] दुर्भाग्य से पठान (चीन) क्षमा माँगेगा ऐसा अभी दिखाई नहीं देता। अलबत्ता छज्जा टूटने के आसार अवश्य बन सकते हैं। ऐसी स्थिति में सुदर्शन जी का मानना है कि भारत को आगे आकर तिब्बत के संतोषजनक समाधान के लिए नेतृत्व प्रदान करना चाहिए। दलाई लामा अपने बलबूते जितना कर सकते हैं, उतना कर रहे हैं। परन्तु चीन पर विश्व जनमत का दबाव आवश्यक है। ''परम पावन दलाई लामा के शान्त व अहिंसक मार्ग ने विश्व जनमत को अपनी ओर मोड़ने में बड़ी भूमिका निभाई है। अमेरिका के ४३ सांसदों ने अपनी सरकार के सामने एक प्रस्ताव रखा है कि अगर चीन सरकार एक-दो साल तक ऐसा ही रवैया रखती है और दलाईलामा के साथ बातचीत के रास्ते तिब्बत समस्या का हल नहीं निकालती तो दलाईलामा के नेतृत्व में चलने वाली तिब्बत की निर्वासित सरकार को असली सरकार के रूप में मान्यता दे दे। ठीक ऐसा ही एक प्रस्ताव कुछ समय पहले यूरोपीय संसद अपनी सदस्य सरकारों के नाम पारित कर चुकी है। यह अनुकूल अवसर है जब भारत को भी स्वराज्य

के प्रश्न पर विश्व के समस्त देशों का समर्थन जुटाकर चीन सरकार पर दबाव बनाना चाहिए।[३०]

इधर कुछ अरसे से भारत और चीन के सम्बन्धों को पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए बातचीतों के लम्बे दौर चल रहे है। चीन और भारत दोनो की ही जनसंख्या मिलकर एक तिहाई विश्व बन जाता है। दोनों पर ही पाश्चात्य संस्कृति का आक्रमण हो रहा है। यदि दोनों मिलकर चलें तो विश्व बन्धुत्व की भावना बढ़ेगी इसमें कोई शक नहीं है। लेकिन सुदर्शन जी के अनुसार इस सारी प्रक्रिया की पहली शर्त तिब्बत समस्या का समाधान ही है। ''चीन और भारत यदि प्रतिस्पर्धा और संघर्ष का मार्ग छोड़कर सहयोग और समन्वय का मार्ग अपनाते हैंतो पाश्चात्य संस्कृति के स्थान पर पौर्वात्य संस्कृति के आधार पर विश्व को नेतृत्व प्रदान कर सकते हैं। इसकी कसौटी होगी चीन के द्वारा अधिकृत भारतीय भू–भाग की मुक्ति और तिब्बत को स्वराज का अधिकार दिया जाना। आशा है चीन इस कसौटी पर खरा उतरेगा।[३१]

हो. वे. शेषाद्रि : तिब्बती भूल को सुधारना होगा – राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नीतिकार हो.वे. शेषाद्रि (हो. वे. शेषाद्रि संघ के सरकार्यवाह रह चुके हैं, उनका १५ अगस्त २००५ में देहान्त हुआ) ने भारत तिब्बत सहयोग मंच को २९ जुलाई २००२ को लिखे अपने एक पत्र में इसी ओर संकेत किया था – पूर्व में देश के नेताओं से कुछ राष्ट्र–विघातक भूल हो गई है। तिब्बत का भारत से परम्परागत संबंध रहा है और भारत व तिब्बत के संबंधों में उनका सब प्रकार से विकास चलता रहा। लेकिन इन सब ऐतिहासिक बातों को एक साथ समाप्त करते हुए तिब्बत को चीन जैसे आसुरी प्रवृत्ति के प्रशासन के अधीन कर डाला है। परन्तु कोई भी भूल मनुष्य के निरंतर प्रयास तथा उसके लिए आवश्यक बलिदान होने पर सुधारा जा सकता है। इस तथ्य का भी विश्व के इतिहास में कुछ उदाहरण मिलता है। इसी प्रकार के अखण्ड प्रयास भारत तिब्बत सहयोग मंच के द्वारा चल रहे हैं, इसका भी कभी न कभी भविष्य में अच्छा फल अवश्य मिलेगा। इसमें विश्वास रख कर अपने को आगे बढ़ना है।[३२]

१६ फरवरी २००६ में भारत तिब्बत सहयोग मंच की ओर से नागपुर में तिब्बत को लेकर एक विशेष कार्यक्रम का आयोजन किया गया जिसमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक सुदर्शन जी, सरकार्यवाह मोहनराव भागवत, प्रसिद्ध चिंतक और संघ कार्यकारिणी के सदस्य माधव गोबिन्द वैद्य उपस्थित थे। मंच के नागपुर के पूर्व संयोजक श्री प्रमोद वडनेरकर तिब्बत की असली स्थिति जानने के लिए ल्हासा गए थे। अपने तिब्बत प्रवास के दौरान उन्होंने 'आँखों देखी' को औपन्यासिक शैली में 'बुद्ध का तीसरा नेत्र' नाम से लिखा। यह कादम्बरी पहले मराठी और बाद में हिन्दी में प्रकाशित हुई। इस कादम्बरी के लोकार्पण के लिए मंच ने यह कार्यक्रम संपादित किया था। मोहनराव भागवत ने आशा व्यक्त की कि तिब्बत एक न एक दिन आजाद हो जाएगा। उनके अनुसार, ''तिब्बती बन्धुओं के स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयासों की भारतीयों को पूरी शक्ति से सहायता करनी चाहिये। चीन की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को परास्त करना होगा और तिब्बत पर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ भारत को उसका पक्ष लेना ही होगा। चीन की दृष्टि केवल तिब्बत पर ही नहीं, बल्कि उसने भारत के दूसरे पड़ोसी देशों के मामले में भी पांव पसारने प्रारम्भ कर दिये हैं। भारत की घेराबन्दी करने के चीन के इन प्रयासों को अनदेखा नहीं किया जा सकता।[३३] भारत तिब्बत के लोगों के दुख दर्द को समझ सकता है, क्योंकि दोनों देशों की संस्कृति एक समान है।[३४] भारत की अपनी सुरक्षा के लिए भी यह जरूरी है कि तिब्बत से चीनी आधिपत्य हटे और चीन की साम्राज्यवादी नीतियों पर लगाम लगाई जाये। तिब्बत के लोग अपनी अस्मिता, अस्तित्व और स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत हैं। आज वे अपने देश में ही अल्पसंख्यक होने की स्थिति में आ गये हैं। यह अत्यन्त दुर्भाग्य पूर्ण है। भारत सरकार को तिब्बत के पक्ष में खुल कर सामने आना चाहिये।''[३५]

समस्या का समाधान : दलाई लामा के प्रयास – ऐसा नहीं है कि दलाई लामा की निर्वासित तिब्बती सरकार ने अपनी ओर से तिब्बत समस्या के समाधान के लिए प्रयास नहीं किए। ये प्रयास तो एक प्रकार से अभी भी

किसी न किसी रूप में चल ही रहे हैं। चीन में १९७६ में माओ की मृत्यु की बाद कुछ अरसे तक तो सत्ता क्षेत्रों में अस्पष्टता की स्थिति बनी रही परंतु बाद में देंग शियाओ पिंग ने सत्ता पर नियंत्रण कर लिया। देंग तिब्बत के मामले में माओ की घोषित नीति से परे हटे। उन्होंने घोषणा की कि स्वतंत्रता को छोड़कर शेष किसी भी सीमा तक दलाई लामा से तिब्बत समस्या के समाधान के लिए वार्ता की जा सकती है। उन्होंने दलाई लामा को यह प्रस्ताव भी भेजा कि वे अपने प्रतिनिधि मंडल तिब्बत में भेज सकते हैं और स्वयं देख सकते हैं कि तिब्बत में कितनी प्रगति हुई है और तिब्बती लोग चीनी शासन से प्रसन्न हैं या नहीं। इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए दलाई लामा ने अगस्त १९७९, मई १९८० तथा जुलाई १९८० में तीन प्रतिनिधि मंडल तिब्बत भेजे। ये प्रतिनिधि मंडल अमदो, खम और ल्हासा में गए। इन प्रतिनिधि मंडलों का इतना भव्य स्वागत हुआ जिसकी कल्पना न चीनी सरकार को थी और न शायद इतनी आशा निर्वासित तिब्बती सरकार को थी। हजारों हजारों की संख्या में लोग तिब्बती प्रतिनिधि मंडल के सदस्यों को केवल देखने, और यदि हो सके तो छूने के लिए ही एकत्रित हो गए। ये प्रतिनिधि दलाई लामा के थे इसलिए तिब्बतियों की दृष्टि में ये देवता सम ही हो गए। एक स्थान पर तो जब प्रतिनिधि मंडल के एक सदस्य ने हजामत करवाई तो उसके बालों को तिब्बती ताबीज की तरह उठाकर ले गए। कुछ स्थानों पर तो तिब्बती भावों के अतिरेक में आजादी के नारे भी लगाने लगे और चीन सरकार ने उन्हें बुरी तरह दंडित किया।

चीन सरकार इससे घबरा उठी। तीस साल में भी तिब्बत के लोगों में तिब्बती राष्ट्रीयता समाप्त नहीं हुई थी। इसलिए जब दलाई लामा ने तिब्बत में शिक्षा के प्रसार के लिए निर्वासित तिब्बती सरकार की ओर से पचास शिक्षक भेजने का प्रस्ताव रखा तो चीन सरकार ने उसे अस्वीकार कर दिया। दलाई लामा ने तिब्बतियों में विश्वास जागृत करने के लिए ल्हासा में संपर्क कार्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव भी रखा। चीन सरकार ने उसे भी खारिज कर दिया।

इसके उत्तर में जुलाई १९८१ में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव हू याओबांग ने तिब्बत समस्या के समाधान के लिए पाँच सूत्रीय प्रस्ताव रखा। इस प्रस्ताव में दलाई लामा और उनके अनुयायियों से अनुरोध किया गया कि वे वापस तिब्बत लौट आएँ। ''दलाई लामा को वही राजनीतिक अधिकार और रहन सहन की सुविधाएँ मिलेंगी जैसी १९५९ से पहले थीं। लेकिन वह तिब्बत में नहीं रहेंगे और न ही किसी पद पर रहेंगे। पर वे समय समय पर तिब्बत जा सकते हैं। उनके अनुयायियों को अपनी रोजी रोटी के बारे में चिंतित नहीं होना चाहिए। यह सब उन्हें पहले से अच्छा मिलेगा।''[३६] जाहिर है कि ये प्रस्ताव तिब्बती समस्या के समाधान को तो नहीं छूते, केवल भारत में रह रहे तिब्बतियों की आजीविका को लेकर चिंतित हैं, तिब्बत की समस्या, उस देश के राजनीतिक ढाँचे को लेकर हैं न कि दलाई लामा के रहने की व्यवस्था को लेकर । इसलिए ये प्रस्ताव तिब्बती जनता में स्वीकृत नहीं हुए।

१९८२ में निर्वासित तिब्बती सरकार और चीन सरकार के बीच एक बार फिर प्रत्यक्ष वार्ता की संभावनाएँ तलाशी जाने लगीं। इन्हीं की तलाश में अप्रैल १९८२ में तीन सदस्यों का एक प्रतिनिधि मंडल बीजिंग गया। उसके बाद ऐसा ही एक प्रतिनिधिमंडल अक्टूबर १९८४ में एक बार फिर बीजिंग पहुँचा ताकि उन धरातलों की तलाश की जा सके जिनपर चीनी और तिब्बती प्रतिनिधि समस्या के समाधान के लिए सार्थक वार्ता को आगे बढ़ा सकें। इन दोनों प्रतिनिधि मंडलों के साथ चीन सरकार का रुख सार्थक नहीं रहा। अतः यह बातचीत आगे नहीं बढ़ सकी।

इसी मोड़ पर दलाई लामा ने तिब्बत समस्या के स्थायी समाधान के लिए चीन सरकार के आगे एक पाँच सूत्रीय शांति प्रस्ताव रखा । यह प्रस्ताव एक प्रकार से पूरे विश्व समुदाय के लिए भी था ताकि वे न्याय के लिए अपने प्रभाव का प्रयोग कर सकें। सितम्बर १९८७ में वाशिंगटन में अमेरिकी कांग्रेस के मानवाधिकार समूह के सम्मुख अपने संबोधन में दलाई लामा ने इस पाँच सूत्रीय शांति प्रस्ताव की घोषणा की। इस प्रस्ताव के अनुसार–[३७]

१) समस्त तिब्बत को शांति–क्षेत्र में परिवर्तित करना।

२) चीन द्वारा जन–स्थानांतरण नीति का परित्याग क्योंकि इससे एक कौम के नाते तिब्बतवासियों के अस्तित्व मात्र को खतरा है।

३) तिब्बती जनों के मूलभूत मानवाधिकारों तथा लोकतांत्रिक स्वतंत्रताओं का आदर हो।

४) तिब्बत के प्राकृतिक पर्यावरण की पुनःस्थापना तथा उसका संरक्षण। चीन द्वारा तिब्बत की धरती का आणविक शस्त्रों के निर्माण और आणविक कचरे को फेंकने हेतु प्रयोग बंद करना।

५) तिब्बत के भविष्य और चीन–तिब्बत संबंधों के बारे में सार्थक बातचीत की जाए।

दलाई लामा के इस प्रस्ताव पर विश्व भर में चर्चा प्रारंभ हो गई और चीन एक प्रकार से कटघरे में खड़ा हो गया। चीन आज तक दलाई लामा पर यह आरोप लगाता रहा था कि वे चीन को तोड़ना चाहते हैं। दलाई लामा के इस प्रस्ताव ने इन आरोपों की भी हवा निकाल दी। जून १९८८ में यूरोपीय संसद को अपने संबोधन में दलाई लामा ने इस पाँच सूत्रीय प्रस्ताव की स्पष्ट व्याख्या भी की। स्ट्रासवर्ग में अपने उद्‌बोधन में उन्होंने तिब्बत के लिए यथार्थ स्वायत्तता का प्रस्ताव रखा और यह भी कहा कि ''यह व्यवस्था चीनी गणराज्य के साथ मिलकर होगी और तिब्बत की विदेश नीति और सुरक्षा की जिम्मेदारी चीन सरकार के पास रहेगी।''[३८]

चीन पर विश्व समुदाय का दबाव बढ़ रहा था इसलिए सितंबर १९८८ में चीन सरकार ने कहा कि वह दलाई लामा के साथ तिब्बत के प्रश्न पर बातचीत करने के लिए तैयार है। इसके लिए समय और स्थान का चयन दलाई लामा स्वयं कर सकते हैं। स्वाभाविक ही निर्वासित तिब्बती सरकार ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और दलाई लामा ने जनवरी १९८९ में जिनेवा में वार्ता शुरू करने का प्रस्ताव किया और अपने प्रतिनिधि मंडल के नामों की

घोषणा भी कर दी। परंतु चीन सरकार अपने वायदे से पीछे हट गई। उसने सबसे पहले तो यह रुख अपना लिया कि स्ट्रासवर्ग के प्रस्ताव बातचीत के आधार नहीं हो सकते। दूसरे चीन ने प्रतिनिधिमंडल के सदस्यों पर भी आपत्ति जताई। चीन सरकार ने इच्छा जाहिर की कि निर्वासित तिब्बती सरकार के प्रतिनिधिमंडल में ग्यालो थोण्डुप का नाम भी शामिल किया जाए। इसके अतिरिक्त चीन ने जिनेवा में वार्ता करने से इन्कार कर दिया। उसके अनुसार बातचीत बीजिंग, हांगकांग या फिर विदेश में किसी भी चीनी दूतावास में हो सकती है। अप्रैल १९८९ में निर्वासित तिब्बती सरकार ने चीन की कुछ शर्तें स्वीकार कर लीं। ग्यालो थोण्डुप का नाम प्रतिनिधि मंडल में शामिल कर लिया गया और यह भी प्रस्ताव किया गया कि प्रारंभिक बातचीत हांगकांग में हो सकती है। लेकिन चीन आश्चर्यजनक ढंग से वार्ता के इस प्रस्ताव से ही पीछे हट गया।

अक्टूबर १९९१ में दलाई लामा अमेरिका के येल विश्वविद्यालय में बुद्धिजीवियों को संबोधित कर रहे थे। उसमें उन्होंने अपनी यह इच्छा जताई कि वे स्वयं तिब्बत जाकर चीनी अधिकारियों से मिलकर धरातल की स्थिति जानने के इच्छुक हैं। दिसंबर में जब चीन के राष्ट्रपति ली पेंग दिल्ली आए हुए थे तो एक बार फिर दलाई लामा ने उनसे मिलने का प्रस्ताव रखा। परंतु चीन सरकार की ओर से इन दोनों प्रस्तावों का ही कोई सकारात्मक उत्तर नहीं दिया गया। इससे निराश होकर तिब्बत की निर्वासित संसद ने जनवरी १९९२ को एक प्रस्ताव पारित किया कि ''जबतक चीनी नेतृत्व के रुख में कोई सकारात्मक बदलाव नहीं होता है तबतक वार्ता के लिए कोई नई पहल नहीं शुरू करनी चाहिए।''[३९]

इसके तुरंत बाद अप्रैल १९९२ में चीन सरकार के दिल्ली स्थित दूतावास ने दलाई लामा के बड़े भाई ग्यालो थोण्डुप को वार्ता के लिए चीन आने का निमंत्रण दिया। जी टी [४०] चीन गए भी लेकिन चीन सरकार के कठोर रुख के कारण बात आगे नहीं बढ़ सकी। चीन सरकार का मत था कि दलाई

लामा चीन को तोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। इन गलतफहमियों को दूर करने के लिए निर्वासित तिब्बती सरकार का दो सदस्यों का एक प्रतिनिधिमंडल चीन गया। इनके पास एक तेरह सूत्रीय ज्ञापन भी था जिसमें उन सभी प्रयत्नों का उल्लेख था जो दलाई लामा ने तिब्बत समस्या को शांतिपूर्ण ढंग से तिब्बत और चीन के परस्पर हितों को ध्यान में रखते हुए हल करने के लिए किए थे। देंग सियाओ पिंग और जियांग जेमिन को संबोधित इस ज्ञापन में कहा गया था ''यदि हम तिब्बती अपने मौलिक अधिकारों को अपनी संतुष्टि के अनुसार प्राप्त कर लेते हैं तो हम चीनियों के साथ रहने के संभावित फायदों को समझने में अक्षम नहीं होंगे।''[४१] परंतु चीन पूर्ववत अपने अड़ियल रुख पर अड़ा रहा। वह समाधान के रास्ते पर एक पग भी आगे नहीं बढ़ रहा था। इस प्रकार इस वर्ष से आगे के लिए धर्मशाला और बीजिंग के बीच संवाद रचना एक लंबे काल के लिए स्थगित हो गई।

संवादहीनता के पूरे पाँच साल बाद चीन के राष्ट्रपति जियांग जेमिन ने जून १९९८ को बीजिंग में एक बार फिर घोषणा की कि कुछ शर्तों पर चीन तिब्बतियों के साथ बातचीत करने के लिए तैयार है। एक बार फिर चीन सरकार और निर्वासित तिब्बती सरकार के बीच संवाद रचना हुई है। सितंबर २००२, मई २००३, सितंबर २००४, जून २००५ में लोडी ग्यालत्सेन ग्यारी और केलसांग ग्यालत्सेन का दो सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल चीन सरकार से बातचीत करने के लिए चीन गया। परंतु अभी तक यह बातचीत बहुत ज्यादा आगे नहीं बढ़ पाई है।

भारत–चीन में भी चले वार्ता के दौर – लगभग एक दशक के सन्नाटे के बाद श्रीमती इंदिरा गांधी ने आपात्काल में (भारत में जून १९७५ से २३ मार्च १९७७ तक आंतरिक आपात् स्थिति लागू थी।) चीन से संवाद रचना प्रारम्भ की। इन्दिरा गांधी से पहले लाल बहादुर शास्त्री तो, तिब्बत को चीन का भाग स्वीकार करने की बात तो दूर, निर्वासित तिब्बती सरकार को मान्यता देने पर ही विचार कर रहे थे। इन्दिरा गांधी की तिब्बत पर प्रत्यक्ष राय क्या

थी, इसको छोड़ दिया जाए, अप्रत्यक्ष रूप में वे तिब्बत को चीन का हिस्सा स्वीकार नहीं करतीं थीं। उन्होंने मास्को में रूस को स्पष्ट कहा था कि भारत तिब्बत पर चीनी कब्जे को अवैध मानता है और यही कारण है कि उसने दलाई लामा को शरण दी हुई है।[४२] १९७६ में भारतीय राजदूत पुनः बीजिंग पहुँचा। तब से अब तक दिल्ली में कोई भी सरकार रही हो, बीजिंग जा कर चीनी नेताओं से बातचीत करने का कर्तव्य अनिवार्य कार्यों में से एक हो गया है। १९८८ में अपने प्रधानमंत्रित्व काल में राजीव गांधी चीन गए और उसके प्रत्युत्तर में १९९१ में चीन के प्रधानमंत्री ली पेंग दिल्ली आए। १९९३ में प्रधानमंत्री नरसिम्ह राव ने चीन यात्रा की और १९९६ में चीन के राष्ट्रपति जियांग जेमिन भारत आये। २२ जून २००३ को प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी छः दिवसीय बीजिंग यात्रा पर गए।

अलबत्ता भारत सरकार और चीन सरकार के बीच इन लम्बी वार्ताओं के परिणाम स्वरूप ही भारत सरकार ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष यह कहना शुरू कर दिया है कि भारत और चीन के बीच सीमा विवाद है। सीमा को लेकर कुछ गलत फहमियाँ हैं। जबकि इससे पहले भारत सरकार का मत था कि चीन ने आक्रमण करके सैन्यबल से भारतीय भूमि पर अवैध कब्जा किया हुआ है। राजीव गांधी ने तो यहाँ तक कह दिया था कि सारा झगड़ा नक्शा बनाने की तकनीक को लेकर था। मैकमहोन रेखा को लेकर भारत और चीन के बीच जो गलत फहमियाँ पैदा हुईं वे इसी तकनीक के कारण थी। आधुनिक युग में इन तकनीकों में काफी सुधार हो गया है इसलिए सीमा विवाद सुलझ जाएगा। उनके अनुसार, ''मैकमहोन रेखा ऐसे ही है जैसे मोटे कलम से छोटे स्तर के माप वाले नक्शे पर खींची हुई रेखा हो।''[४३] चीन अपनी स्थिति पर पूर्ववत् अड़ा हुआ है। उसने भारत की जमीन पर कब्जा किया हुआ है इसलिए इन लम्बी बातचीतों में चित भी उसकी है और पट भी।

यह ताज्जुब का विषय है कि जब भी भारत का कोई नेता चीन जाता है तो चीन सरकार उससे यह घोषणा अवश्य करवाती है कि तिब्बत चीन का

हिस्सा है और भारत सरकार इसे स्वीकार करती है। इस स्वीकृति की चीन सरकार 'मुगाम्बो खुश हुआ' के भाव में प्रशंसा करती है। इसमें शब्दों का थोड़ा बहुत हेर–फेर हो सकता है परंतु भाव लगभग समान ही रहता है। इसी प्रकार जब कोई चीन का नेता भारत में आता है तो भारत को अपनी यह घोषणा संयुक्त वक्तव्य में फिर दोहरानी पड़ती है। लगता है भारत चीन वार्ता में भारत की ओर से तिब्बत के बारे में ऐसी घोषणा किया जाना इन वार्ताओं की पूर्व शर्त बन गई है। अलबत्ता १९६२ में चीन ने जिस भारतीय जमीन पर कब्जा कर लिया था उसको लौटाने की बात भारत सरकार ने कभी नहीं की, क्योंकि साउथ ब्लाक के अनुसार इससे वार्ता में बाधा पड़ती है। इस बाधा से बचने के लिए भारत सरकार ने चीन द्वारा हथियाई गई जमीन के प्रश्न को दोनों देशों के बीच सीमा विवाद कहना शुरू कर दिया है। जाहिर है इस नए शब्द से चीन को कोई नुक्सान होने वाला नहीं है बल्कि इससे उसे फायदा है । २००३ में भारत के प्रधानमंत्री की चीन यात्रा के बाद पूर्व सेनाध्यक्ष शंकर रायचौधुरी ने एक महत्पपूर्ण टिप्पणी की थी। यह टिप्पणी तिब्बत और चीन को लेकर आम भारतीय मानसिकता की प्रतिनिधि भी कही जा सकती है। श्री चौधुरी के अनुसार,''बहुत पुरानी कहावत है कि 'शादी और दोस्ती बराबर वालों में होती है'। आज जब हम चीन की तरफ अपनी दोस्ती का हाथ बढ़ा रहे हैं तब हमें इसका ख्याल रखना चाहिए कि क्या हम और चीन बराबरी के दर्जे में हैं या नहीं हैं? हम लोगों को इस सवाल का जवाब अपने दिल के अंदर, आपने आप से पूछना पड़ेगा और फिर आगे बढ़ना पड़ेगा। मैं मानता हूँ कि जहाँ बराबरी नहीं है वहाँ दोस्ती नहीं हो सकती, वहाँ समझौते हो सकते हैं।..........इतिहास एक बहुत कठोर शिक्षक है। चीन के साथ हमारा पुराना इतिहास ह्वेन सांग और फाहियान का है तो एक नया इतिहास भी है। यह नया इतिहास १९५० से शुरू होता है। हम चीन के साथ समझौते कर रहे हैं तब लाजिमी है कि १९५० से आगे वाला इतिहास हमें भूलना पड़ेगा। लेकिन उसका एक हिस्सा और है और अगर वह भूल गए तो हम बड़ी गलती करेंगे। वह है १९६३ में

चीन और पाकिस्तान के बीच जो समझौता हुआ है, जिसके तहत चीन ने पाकिस्तान को हर किस्म की मदद देकर अपना एक उपग्रह बना दिया है ताकि वह हमको संभाल कर रखे और चीन अपना काम करता रहे। यह उसका राष्ट्रीय हित है और वे इस तरह से बढ़ रहे हैं।.............हमें यह पता होना चाहिए कि चीन की सरकार में जनमुक्ति सेना का बहुत बड़ा हाथ है। इसलिए जब हम चीन के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाते हैं तो यह सब चीजें याद रखनी चाहिए। मैं एक और कहावत बताऊँगा लेकिन इस दफा अंग्रेजी में 'स्पीक सोफ्टली, बट कैरी ए बिग स्टिक'। यह स्टिक हमारे पास नहीं है।''[४४] चीन द्वारा तिब्बत पर हमले के ५६ वर्ष पश्चात् और भारत पर हमले के ४७ वर्ष पश्चात् भी अभी तक हम स्टिक का निर्माण नहीं कर पाए हैं ताकि चीन के साथ बराबरी के स्तर पर बैठकर दोस्ती का हाथ बढ़ा सकें।'' यह मत भारत के पूर्व सेनाध्यक्ष का है। इतना तो मानना ही चाहिए कि जब तक यह स्टिक नहीं होगी तब तक तिब्बत आजाद नहीं हो सकता और न ही भारत की चीन से दोस्ती हो सकती है।

१९६२ के युद्ध के बाद चीन की भारत के प्रति क्या राय है और वह दोस्ती के लिए कितना इच्छुक है, इसका एक उदाहरण पर्याप्त है। १९९६ में जियांग जेमिन भारत आए थे और दोनों देशों के ऐतिहासिक संबंधों की चर्चा करते थकते नहीं थे। परंतु १९९९ में एक महाशक्ति राष्ट्र के राष्ट्राध्यक्ष को बता रहे थे कि, ''(चीन ने) भारत की सुरक्षा तैयारियों का जायजा लेने के लिए वास्तविक नियंत्रण रेखा के पार चीनी सैनिक गश्ती दलों को भेजा। (यह घटना १९९९ की है। लद्दाख और बाद में अरुणाचल प्रदेश में यह अतिक्रमण हुआ था।) लेकिन जब-जब भी हमने अपने गश्ती दल भेज कर भारतीय सेना की परीक्षा ली तो सैनिकों ने हाथ खड़े कर सही उत्तर दे दिया।''[४५]

भारत की सुरक्षा को खतरा बरकरार – चीन ने अभी तक भी भारत के खिलाफ आक्रामक कार्यवाहियाँ बन्द नहीं की हैं। वह बीच-बीच में भारतीय सीमा का उल्लंघन करता रहता है और भारतीय मनोबल को टटोलता रहता

है। अगस्त १९८६ में चीनी सेना ने अरुणाचल प्रदेश की सुंगदोरोंग चु घाटी में वानडुग के स्थान पर हेली पैड बना लिया था। भारतीय सेना को जैसे ही पता चला तो उसने तुरंत मोर्चा संभाल लिया। देखते–देखते दोनों सेनाएँ बिल्कुल आमने–सामने आ गईं। एक सप्ताह तक तनाव बना रहा। अंत में चीनी सेना को वह क्षेत्र खाली करना पड़ा। जिन दिनों तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी चीन यात्रा (जून २००३) पर थे उन्हीं दिनों चीनी सेना का गश्ती दल अरुणाचल प्रदेश में भारतीय सीमा का अतिक्रमण कर रहा था। यह ठीक है कि परंपरागत ढंग की लड़ाई में भारतीय सेना ने हिमालयी क्षेत्र में पुनः अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली है लेकिन चीन पिछले चार दशकों से चुप नहीं बैठा है। उसने तिब्बत के पठार को भारत के खिलाफ एक आणविक दुर्ग में परिवर्तित कर दिया है। पाकिस्तान को परमाणु हथियार सम्पन्न देश बना दिया है और पाक अधिकृत कश्मीर के कुछ हिस्से पर भी कब्जा कर लिया है। चीन–पाक संधि की भाषा में पाकिस्तान सरकार ने यह क्षेत्र सीमा की निशानदेही पर स्वयं चीन को दिया है। जाहिर है कि तिब्बत में चीन भारत के लिए भयंकर खतरे के रूप में उपस्थित है।

चीन पिछले पचास सालों से तिब्बत को भारत के खिलाफ एक सुरक्षात्मक दुर्ग के रूप में परिवर्तित कर रहा है। ये प्रयास बहुआयामी रहे हैं। एक तो सड़क और रेलमार्ग के जाल से सम्पूर्ण तिब्बत को अच्छी तरह से हान क्षेत्रों से जोड़ देना और द्वितीय पूरे तिब्बती पठार को आणविक हथियारों के जखीरे के रूप में विकसित करना। पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए चीन ने १९५० में ही २४०० किमी लंबी चेंगदू–ल्हासा और २१०० किमी लंबी सिलिंग–ल्हासा सड़क का निर्माण कार्य प्रारंभ कर दिया था और १९५४ तक आते–आते ये दोनों सड़कें चालू हो गईं थीं। पिछले पाँच दशकों में बीजिंग ने तिब्बत में २२००० किमी लंबी सड़कें बनाईं हैं जिसमें १५ मुख्य राजमार्ग हैं और ३१५ सम्पर्क मार्ग हैं। सड़कों के इस जाल से तिब्बत तो पूरी तरह चीन के चंगुल में फँस ही गया है परंतु इसके साथ ही चीनी सेना जब चाहे भारत के सीमांत

को पूरी तरह घेरने में सक्षम हो गई है। तिब्बत में ही चीन ने पश्चिमोत्तर आणविक शस्त्र शोध एवं डिजाईन अकादमी की स्थापना की है जिसे आम तौर पर नौवीं अकादमी भी कहा जाता है। इसी अकादमी में चीन के परमाणु बमों का निर्माण हुआ। वर्तमान में तिब्बती पठार में चीन के ३०० से लेकर ४०० तक आणविक वारहेड हैं जिनका युद्ध के लिए किसी भी समय प्रयोग किया जा सकता है। ऐसा कहा जाता है कि तिब्बती पठार में ही चीन की नई मिसाइल डीएफ–२१ स्थापित है। चीन के परमाणु मिसाइल बेस लद्दाख की सीमा पर नगरी में स्थित हैं। चीन की इस तैयारी से लगभग पूरा भारत उसकी मिसाइलों की मार में आ जाता है।[४६]

१९६२ के युद्ध में भारत ने वायु सेना का प्रयोग नहीं किया था। (और शायद उसके हारने का एक मुख्य कारण यह भी था।) चीन उस समय वायु सेना का प्रयोग कर ही नहीं सकता था क्योंकि तिब्बत के पठार पर कहीं भी वायुपत्तन नहीं थे। परंतु अब चीन ने युद्ध के लिए उपयुक्त ऐसे अनेक एयर फील्ड विकसित किए हैं और इनमें से अनेक भारत की सीमा के नजदीक ही हैं। शिगास्ते, ल्हासा, गोंगर, नागचूका, चोस डेट, जेकुंडो, गोरमुंड, गंगका, चाबचा इत्यादि एयरफील्ड तिब्बत में चीनी वायु सेना को मजबूत करते हैं।

चीन के साथ पैकेज डील की चर्चा – सुब्रहमण्यन स्वामी ने बीजिंग में देंग से (८ अप्रैल १९८१) को एक लंबी बातचीत की थी। उस समय शीत युद्ध का अंत नहीं हुआ था। अतः चीन भारत को रूस के खिलाफ इस्तेमाल करना चाहता था। देंग ने सीमा के प्रश्न पर पैकेज डील की बात कही थी। जिसका स्पष्ट अर्थ है कि चीन उत्तर पश्चिम क्षेत्र में भारतीय क्षेत्र पर कब्जा जमाए रखना चाहता है और बाकी क्षेत्रों पर उसका जो दावा है वह केवल कागजों में है वह उसे छोड़ने के लिए तैयार है। दरअसल चीन किसी भी हालत में अक्साईचिन छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। लद्दाख के इस क्षेत्र पर वह अपन कब्जा जमाए रखना चाहता है और इसी को वह पैकेज डील कहता है। यही बात बहुत साल पहले चीन के एक और समर्थक एडगर स्नो ने जार्ज

फर्नांडिस से कही थी।[४७] इसका अर्थ यह हुआ कि चीन पूर्वोत्तर में भारतीय क्षेत्रों पर केवल इसलिए दावा जता रहा है ताकि लद्दाख में भारतीय क्षेत्र लेने के लिए दबाव बनाया जा सके। तब देंग ने स्वामी से एक और बात भी कही कि चीन भारत के लिए इसलिए भी खतरा नहीं बन सकता क्योंकि चीनी सेना को भारत तक पहुँचने के लिए तिब्बत के पठार को पार करना होगा और भौगोलिक स्थितियों के कारण इसे पार करना मुश्किल है। ताज्जुब है देंग ये सारी बातें स्वामी को उस समय समझा रहे थे जब चीन भारी संख्या में चीनी सेना को तिब्बत में तैनात कर चुका था। देंग ने तो यहाँ तक कहा कि यदि भारत तिब्बत के एक हिस्से पर कब्जा भी कर लेगा तब भी चीन भारत को खतरा नहीं मानेगा। अपनी मृत्यु से लगभग छः मास पहले (५ नवम्बर १९७२) ठाणे, महाराष्ट्र में स्वयंसेवकों को संबोधित करते हुए श्रीगुरु जी ने देश को अंतिम बार आगाह किया। ''चीन ने अपना सूत्र नहीं छोड़ा है। वे बड़े पक्के लोग हैं। कुछ दिन और जाने दो। उनकी पूरी परंपरा प्रकट हो जाएगी। चारों ओर अपना प्रभाव फैलाने की उनकी जो योजना है, वह उनके पुराने सम्राटों की ही परंपरा है।''[४८] तिब्बत में चीन का बढ़ता प्रभाव और भारत को घेरने की उसकी योजना अब स्पष्ट ही नजर आने लगी है। देंग ने भी ठीक ही कहा था, भारत चीन के लिए खतरा नहीं है। लेकिन चीन तो भारत के लिए स्थायी खतरा बनता जा रहा है।

गोर्मो–ल्हासा रेलवे मार्ग – चीन सरकार ने गोर्मो से लेकर ल्हासा तक का विश्व का सर्वाधिक ऊँचाई वाला रेलवे मार्ग पूरा कर लिया है और प्रथम जुलाई २००६ से वह चालू भी हो गया है। इस रेलमार्ग के चालू हो जाने से जहाँ तिब्बत में हान लोगों को आसानी से ज्यादा से ज्यादा संख्या में बसाया जा सकेगा वहीं भारत की सीमा पर चीनी सेना भी आसानी से भेजी जा सकेगी। देंग को तिब्बत में चीनी सेना भेजने में जो कठिनाई आ रही थी[४९] २००६ तक आते–आते वह कठिनाई भी इस रेलवे मार्ग ने दूर कर दी। ल्हासा से नाथुला की दूरी केवल ५७० किमी है और यह सड़क

अच्छी अवस्था में है। इस प्रकार सभी प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं को पार करते हुए चीन की रेल और सड़क भारत की सीमा को छू रही है। चीन की यह सैनिक प्रगति १९५० से लेकर २००६ तक का सफर है। इधर भारत सरकार ने इस चीनी रेलवे मार्ग के खुल जाने पर सीमांत पर सड़कें बनाने के लिए सर्वेक्षण करवाने का निर्णय किया। मुम्बई से प्रकाशित अंग्रेजी दैनिक डी.एन.ए. के अनुसार रक्षा सूत्रों का कहना है कि सीमा सड़क संगठन के कर्मचारियों ने भारत तिब्बत सीमा पर भारत रोड़ नेटवर्क का व्यापक सर्वेक्षण शुरू कर दिया है। परियोजना पर तकरीबन दो हजार करोड़ अनुमानित लागत आएगी। इसके तहत छत्तीस सड़कें बनाई जाएगी और चीन (तिब्बत) सीमा पर द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बनी कम से कम तीन हवाई पट्टियों का पुनरुद्धार किया जाएगा। ये हवाई पट्टियाँ बरसों से टूटी-फूटी पड़ी हैं।[५०] चीन इस रेल मार्ग को ल्हासा तक लाकर ही संतुष्ट नहीं है। वह इसे नेपाल की सीमा तक ले जाना चाहता है और दूसरी ओर इसे शिगास्ते तक लाना चाहता है। ये दोनों ही स्थितियाँ भारत के लिए खतरनाक हैं।" ल्हासा से शिगास्ते तक रेल मार्ग का निर्माण पूरा होते ही चीन सीमा पर तेजी से सेना तैनात करने और भारत पर अकस्मात हमला करने की स्थिति में हो जाएगा।"[५१]

अरुणाचल प्रदेश में तवांग घाटी से जो सीमा तिब्बत के साथ लगती है, वहाँ किसी प्रकार की भी आधारभूत संरचना का निर्माण नहीं किया जबकि चीन सीमांत तक सड़कें ले आया है। मौखिक रूप से भारत सरकार का तर्क दो प्रकार से है। प्रथम तो यह कि शायद किसी समझौते में यह प्रदेश चीन को ही सौंपना पड़े और द्वितीय यह कि यदि किसी भावी लड़ाई में चीन ने इस क्षेत्र पर कब्जा कर लिया तो उसे कम से कम आधार भूत संरचना न उपलब्ध हो। यह दोनों प्रकार की मानसिकता ही वास्तव में पलायनवादी या पराजयवादी मानसिकता है। इस मानसिकता से चीन के खिलाफ उत्तरी सीमांत की कैसे रक्षा की जा सकती है–यह विचारणीय प्रश्न है।

शायद अभी भी तिब्बत और तिब्बत के लोग यह आशा कर रहे हैं कि दिल्ली ग्यालपो उनकी सहाय्ता के लिए आएगा। दिल्ली में अब तक न जाने कितने ग्यालपो आएऔर चले गए। उधर तिब्बत में धर्म साम्यवादी पंजे में कराह रहा है। इधर भारत माता का एक आंचल चीनी दैत्य के मुँह में है। शास्त्र में कहा गया है धर्म उसकी रक्षा करता है जो धर्म की रक्षा करते हैं। तिब्बत ने धर्म की रक्षा की है और अब तिब्बत की रक्षा करने की बारी धर्म की है। यह युद्ध धर्म और अधर्म का है। महाभारत में एक श्लोक है कि देश की सीमाएँ माता के वस्त्रों के समान होती है। जब कोई आक्रांता उन सीमाओं का अतिक्रमण करता है, तो वह मां के चीरहरण के समान होता है। महाभारत कर्म की शिक्षा देता है। चीन ने तिब्बत में धर्म पर प्रहार किया है और भारत में माँ का चीरहरण किया है। इसका प्रतिकार ग्यालपो नहीं, धर्मपुत्र और भारत माता की गौरवशाली संतान ही कर सकती है। भविष्य उसी की राह देख रहा है।



पंचम अध्याय

उपसंहार

चार साल बाद तिब्बत के चीन की गुलामी में छः दशक पूरे हो जायेंगे। भारत सरकार ने तो १९५४ में ही तथाकथित पंचशील संधि की आड़ में तिब्बत से अपना सभी प्रकार का नाता एक प्रकार से तोड़ लिया था और डा. राम मनोहर लोहिया के शब्दों में उसने शिशु हत्या की थी।[१] १९५९ में परिस्थितियां इतनी भयावह हो गईं थीं कि दलाई लामा को अनेक तिब्बतियों सहित भारत आना पड़ा। १९६२ में चीन ने भारत पर ही आक्रमण कर दिया और उसकी हजारों वर्ग मील भूमि पर कब्जा कर लिया। १४ नवम्बर १९६२ को भारत की संसद ने प्रतिज्ञा की ,''भारत की पवित्र भूमि से हम आक्रमणकारियों को खदेड़कर ही दम लेंगे। इस कार्य में हमें चाहे कितना ही समय क्यों न लगाना पड़े या इसका कितना भी मूल्य चुकाना पड़े, हम चुकाने को तैयार हैं।''[२] तिब्बत के लोग निरंतर अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। १९५९ के विद्रोह के बाद यह संघर्ष कभी समाप्त नहीं हुआ। चीन की सांस्कृतिक क्रांति के दिनों में तिब्बत ने भयंकर सांस्कृतिक संहार झेला है। सांस्कृतिक क्रांति के दिनों में तिब्बत का शायद ही कोई मंदिर मठ बचा हो जिसे चीनियों ने तोड़ा न हो। सेरा, द्रेपुंग और गांदेन के विश्वविख्यात विश्वविद्यालय मिट्टी में मिला दिये गये और पुस्तकालयों को जला कर राख

कर दिया गया। महात्मा बुद्ध की धातुओं की मूर्ति को अग्नि में गला दिया गया। जोखांग मंदिर को नष्ट कर दिया गया। हजारों तिब्बती 'तिब्बत की जय' कहने के कारण जेलों में ठूँस दिये गये। अनेकों की वहाँ मृत्यु हो गई। दलाई लामा का नाम लेने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परन्तु तिब्बत के लोगों ने हार नहीं मानी। वे बार–बार चीनी शासकों से भिड़ते रहे। १९५९ से लेकर १९८७ तक छोटे–मोटे अनेक विद्रोह हुए लेकिन १९८७ के भयंकर विद्रोह ने तो चीनी दावों की पोल खोलकर रख दी।

इसी वर्ष दलाई लामा ने तिब्बती समस्या के समाधान के लिए अमेरिकी काँग्रेस में अपना पाँच सूत्रीय प्रस्ताव रखा था। चीन सरकार ने इसके खिलाफ ल्हासा में २४ सितम्बर को दलाई लामा की निन्दा करने के लिए एक जन सभा का आयोजन किया। सभा में ही दो तिब्बतियों को मृत्यु दण्ड दिया गया और नौ को तिब्बत की स्वतंत्रता के लिए कार्य करने के आरोप में कैद कर लिया गया। तिब्बतियों में रोष भड़का। २७ सितम्बर को १५०–२०० लोगों ने जोखांग मंदिर की परिक्रमा करते हुए चीन सरकार के खिलाफ प्रदर्शन किया। प्रदर्शनकारियों में २६ लामा साधु भी थे। पुलिस ने साधुओं समेत ३६ तिब्बतियों को गिरफ्तार कर लिया। प्रदर्शनकारी जोखांग मंदिर की परिक्रमा करते हुए तिब्बत की स्वतंत्रता के नारे लगा रहे थे। एक अक्तूबर को चीन का राष्ट्रीय दिवस था। इस दिन लगभग दो हजार तिब्बतियों ने स्वतंत्रता की माँग करते हुए प्रदर्शन किया। पुलिस ने उन्हें जोखांग मंदिर जाने से पहले ही रोक दिया। लामा साधु पुलिस के खास निशाने पर थे क्योंकि वही प्रदर्शकारियों का नेतृत्व कर रहे थे। चीनी पुलिस कुछ भिक्षुओं को पकड़ कर थाने में ले गई। उन्होंने थाने के अन्दर एक भिक्षु को मार दिया। पुलिस ने स्वतंत्रता संग्रामियों पर गोली चला दी। तिब्बतियों ने थाने को आग लगा दी। ''थाने में सेरा मठ के इक्कीस वर्षीय भिक्षु के सिर पर पुलिस ने बेलचे से प्रहार किया और वह वहीं गिर पड़ा। जब थाना जलने लगा तो गर्मी बढ़ने लगी। एक तिब्बती सिपाही ने एक तरफ की खिड़की खोलकर कुछ तिब्बती भिक्षुओं को बाहर निकाल

दिया। एक चीनी सिपाही ने यह देखकर एके–४७ से उस तिब्बती सिपाही के सिर पर गोली मार दी। फिर थाने के अन्दर,ही भिक्षुओं को गोली मारी जाने लगी। भिक्षु चाम्पा तेंजिन थाने की आग में बुरी तरह झुलस गया।''[३]

पुलिस की गोली से १९ तिब्बती मारे गये और अनेक घायल हुए। थाने से बाहर निकल रहे एक भिक्षु को पुलिस ने निशाना साध कर गोली मार दी। ६ अक्तूबर को एक बार फिर सेरा विश्वविद्यालय से १०० के लगभग तिब्बती प्रदर्शन करते हुए और पो ग्यालो (तिब्बत की जय) और पो रंगजेन (तिब्बत की आजादी) के नारे लगाते हुये स्थानीय सरकार के मुख्यालय की ओर बढ़ चले। चीनी पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उसके बाद चीन सरकार ने तिब्बत में मार्शल लॉ लागू कर दिया और अमानुषिक अत्याचारों का एक नया अध्याय शुरू हुआ।

दसवें पंचेन लामा की मृत्यु के बाद[४] उनके अवतार ग्यारहवें पंचेन लामा को पाँच साल की आयु में ही चीन सरकार ने गिरफ्तार कर लिया। पिछले ग्यारह साल से वे अभी भी जेल में हैं और पुलिस उनका अता पता नहीं बता रही है। तिब्बत में दलाई लामा का चित्र घर में या अन्यत्र रखना दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है। यह ठीक है कि मठों को किसी सीमा तक पुनः कार्य करने की छूट दे दी गई है, लेकिन उनकी प्रबंध व्यवस्था चीन सरकार ने इस प्रकार की बना दी है कि साधक भिक्षु साधक न रहकर कर्मचारी या फिर श्रमिक हो गए हैं। चीन सरकार ने तिब्बती भिक्षु को केवल उसके चीवर लौटाए हैं। उसे बौद्ध ज्ञान अर्जित करने अथवा ध्यान समाधि साधना का अधिकार नहीं है। चीवर भी इसलिए लौटाए गए हैं ताकि विदेशी पर्यटकों को मठों की ओर आकर्षित कर विदेशी मुद्रा कमाई जा सके।

लेकिन इन सबके बावजूद बीजिंग सरकार तिब्बती राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय भावना को समाप्त नहीं कर सकी। दलाई लामा, तिब्बती राष्ट्रीयता के मूर्तिमान प्रतीक हैं। अभी भी हजारों तिब्बती अनेक प्रकार के संकटों को सहते हुए चीनी सेना से छिपते छिपाते हिमालय की बर्फ लदी चोटियों को पार कर

दलाई लामा के दर्शन हेतु भारत आते हैं। चीन जानता है कि दलाई लामा तिब्बती राष्ट्रीयता के जिन्दा प्रतीक है। इसलिए शायद वह उन्हीं के काल कवलित होने की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके बाद की स्थिति स्पष्ट दिखाई देती है। चीन सरकार तिब्बत में किसी को चौदहवें दलाई लामा का अवतार घोषित कर देगी और उसे अपने कब्जे में कर लेगी। दलाई लामा को १९५९ में तो बीजिंग अपने नियंत्रण में नहीं ले सका, लेकिन उनकी मृत्यु के बाद वह उन्हें अपने नियंत्रण में लेने की योजना बना रहा है। आश्चर्य है बीजिंग तिब्बत की राष्ट्रीयता एवं संस्कृति को समाप्त करने के लिए मार्क्सवाद की लाश पर, पुनर्जन्म की तांत्रिक क्रियाओं को संपन्न करने के लिए तैयार है। दरअसल १९४९ में भी चीन ने मार्क्सवाद को हान राष्ट्रीयता को प्रज्जवलित करने के लिए प्रयुक्त किया था और अब वह इसी को तिब्बती राष्ट्रीयता के हनन के लिए प्रयोग कर रहा है। असल में मार्क्सवाद को कन्फ्यूशियस के शिष्य चीन ने कभी स्वीकार ही नहीं किया था। लेकिन दलाईलामा ने पहले ही यह घोषणा कर दी है कि वे गुलाम बनाए गए किसी भू–भाग में पुनर्जन्म नहीं लेंगे। साथ ही दलाईलामा ने तिब्बत सरकार व प्रशासन के लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी है, तिब्बत का लोकतांत्रिक नेतृत्व अपने बलबूते खड़ा हो सके। लेकिन मुख्य प्रश्न फिर भी यही रहेगा कि भारत तिब्बत के बारे में चीन के समक्ष क्या रुख अपनाता है? वैसे भी भारत और चीन के संबंधों से तिब्बत की स्थिति प्रभावित होती ही है।

रहा प्रश्न चीन और भारत के संबंधों का, चीन ने भारत और तिब्बत के बीच सीमा निर्धारित करने वाली मैकमहोन रेखा को न तब स्वीकार किया था और न ही अब स्वीकार करता है। भारत में पहले से ही चीन समर्थक एक सशक्त लॉबी रही है। यह लॉबी और इसके कुछ अति उत्साहित लोग १९६२ के दिनों में हिमाचल प्रदेश से लेकर अरुणाचल प्रदेश तक हिमालय के दुर्गम रास्तों की खाक छान रहे थे, यह जानने के लिए कि चीन की मुक्ति सेना किधर–किधर से आ सकती है और उसके लिए तोरणद्वार कहाँ सजाये जाएँगे।

इसी लॉबी ने अब फिर कहना शुरू कर दिया है कि चीन और भारत का २००० सालों की शांतिपूर्ण मित्रता का इतिहास है। १९६२ के कुछ दिनों का युद्ध एक बुरे रात्रि स्वप्न की तरह भूल जाना चाहिए। लेकिन यह लॉबी यह कहने को तैयार नहीं है कि भारत और तिब्बत (चीन) के बीच सीमा मैकमहोन रेखा ही है। पंचशील की तथाकथित संधि को लेकर भारत सरकार और चीन सरकार ने एक बार फिर दिल्ली में संयुक्त जश्न मनाने प्रारम्भ कर दिये हैं। पहले चाणक्यपुरी में चीनी दूतावास की ओर जाता हुआ कोई एक आध सुन्दरलाल दिखाई देता था लेकिन आज कल फिर सुन्दरलालों की भीड़ इक्ट्ठी हो रही है।

दलाई लामा ने अरसा पहले नेहरू और माओ को मिलने पर टिप्पणी की थी। ''माओ की तुलना में (नेहरू) में आत्मविश्वास कम लगता था। मगर उनमें तानाशाही जैसा कुछ भी नहीं था। वे ईमानदार दिखाई देते थे, यही कारण था कि वे बाद में चाऊ एन लाई द्वारा ठगे गए ।[५] इस टिप्पणी में यदि नेहरू को भारत का प्रतीक मान लिया जाए और चाऊ को चीन का तो वर्तमान संदर्भों में भी स्थिति का आकलन करने में आसानी हो सकती है। क्या उस स्थिति में और आज की स्थिति में कोई अंतर आया है? क्या भारत का आत्मविश्वास बढ़ा है? चीन ने १९६२ में भारत चीन युद्ध के दो साल के भीतर ही परमाणु विस्फोट कर दिया था। भारत में अभी भी इसी बात को लेकर बहस चल रही है कि अव्वल तो भारत को परमाणु विस्फोट करने ही नहीं चाहिए थे और यदि किए भी है तो इन्हें तुरन्त बंद कर देना चाहिए।[६]

दलाई लाम्मा जिसको 'आत्मविश्वास' कहते हैं, गुरुनानक देव ने उसी को 'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत' कहा था। चीन के मामले में भारत के 'मन' की स्थिति क्या है? यही प्रमुख प्रश्न है। यह निर्णय तो भारत को स्वयं ही करना है कि उसे विश्व समुदाय में अपना क्या स्थान प्राप्त करना है? उसी स्थान के अनुसार तिब्बत समस्या हल होगी और उसी के अनुसार भारत-चीन के संबंध सुधरेंगे। लेकिन चीन को लेकर भारत में एक अजीब

तरह की मानसिकता विकसित हो रही है। जैसे–जैसे चीन की छाया फैलती जा रही है तैसे–तैसे तिब्बत के प्रश्न को ग्रहण लगता जा रहा है। विद्वान् यह मानते हैं कि तिब्बत समस्या के समाधान के बिना भारत का उत्तरी सीमांत हिमालय शांत नहीं हो सकता, परन्तु उसके बाद आश्चर्यजनक चुप्पी साध लेते हैं।

चीन पाकिस्तान और अमेरिका की धुरी – भारत के तत्कालीन रक्षा मंत्री जार्ज–फर्नांडिज ने जब यह राय जाहिर की थी कि भारत को असली खतरा चीन की ओर से है, न कि पाकिस्तान की ओर से[७] तो भारत की चीन समर्थक लॉबी ने आसमान सिर पर उठा लिया थाऔर दुर्भाग्य से जब पाकिस्तान ने कारगिल में घुसपैठियों के रूप में अपनी सेना भेजी तब तो चीन समर्थक लॉबी को यह कहने का मौका भी मिल गया कि भारत का असली दुश्मन कौन है? क्योंकि कारगिल में भारत को पाकिस्तान ललकार रहा था। भारत और चीन के बीच उस समय भी सद्भावनाओं के सेतु तैयार हो रहे थे। चीन समर्थक लॉबी की इस चीखोपुकार से जार्ज–फर्नांडिज चुप हो गये थे। लेकिन अब पिछले दिनों भारत के पूर्व सेनाध्यक्ष जनरल कृष्णराव ने लगभग जार्ज की ही शब्दावली में चीन के बारे में अपनी आशंकाएं जाहिर की हैं कि निकट भविष्य में चीन भारत पर हमला भी कर सकता है। विजयवाड़ा में उन्होंने कहा कि पाकिस्तान हमारा असली शत्रु नहीं बल्कि असली शत्रु तो चीन है। पाकिस्तान से तो हम जब चाहें आसानी से निपट सकते हैं। चीन पिछले कुछ अरसे से अपनी सेनाओं के आधुनिकीकरण के उपरान्त १९६२ को दोहराने की कोशिश करे तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। जनरल राव ने इस समय चीन द्वारा भारत के प्रति दिखाई जा रही सद्भावना पर टिप्पणी की और कहा कि चीन की सद्भावना सदा धोखे के लिए आवरण का काम करती है। भारत के पड़ोस में चीन एक महाशक्ति के रूप में उभर रहा है और भारत मूक दर्शक बना नहीं रह सकता। इसी संदर्भ में उन्होंने भारतीय सेना की क्षमता बढ़ाये जाने पर बल दिया।

जनरल कृष्णराव का यह मूल्यांकन तथ्यों पर आधारित तो है ही, साथ ही दिल्ली की उस चीन समर्थक लॉबी के मुँह पर तमाचा भी है जो शुतरमुर्ग की तरह रेत में गर्दन दबाकर भारत–चीन संबंधों में सुधार के नाम पर निर्लज्ज तुष्टीकरण का रास्ता अपना रही है। पश्चिमी शक्तियों का यह प्रयास है कि पाकिस्तान को भारत के प्रतिद्वंद्वी के रूप में खड़ा भी किया जाए और भारत के लिए ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण भी तैयार किया जाए कि भारतीय जनता का सम्पूर्ण ध्यान पाकिस्तान पर केन्द्रित हो जाए। इस मनोवैज्ञानिक रचना के लिए दुर्भाग्य से इतिहास में पहले ही काफी सामग्री बिखरी पड़ी है। जहाँ तक शक्ति का संबंध है, अमेरिका समेत अनेक पश्चिमी राष्ट्र समय–कुसमय पाकिस्तान को हथियार मुहैया करवाते ही रहते हैं। अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्र भारत और पाकिस्तान के बीच के संबंधों को दो ऐसे पहलवानों के बीच की कुश्ती में बदलना चाहते हैं जिनकी कुश्ती न बराबरी की कुश्ती है। पाकिस्तान भारत के बराबर का पहलवान नहीं है लेकिन अमेरिका व दूसरे राष्ट्र उसको खिला पिलाकर हर हालत में भारत के मुकाबले अखाड़े में उतारेंगे ही, क्योंकि इस कुश्ती में अमेरिका समेत दूसरे पश्चिमी राष्ट्र भी रैफरी की भूमिका निभा सकते हैं । अब तो हालत यह हो गई है कि चीन भी इस मैच में निर्णायक अथवा जज की भूमिका में उतरने के लिए उतावला है। भारत ने भी गलती से इसी अखाड़े को असली अखाड़ा समझ लिया है और इससे पूरा हिमालय असुरक्षित हो गया है।

गलत अखाड़े में कुश्ती लड़ने की यह पहल पंडित जवाहरलाल नेहरू के जमाने में ही शुरू हो गई थी। नेहरू अपनी आदर्शवादिता के कारण या फिर कायरता के कारण या फिर चीन के इतिहास और मनोविज्ञान को न समझ पाने के कारण भारत चीन एकजुटता के स्वप्न ही देखते रहे। उन्हें यह स्वप्न दिखाने में के.एम. पणिक्कर और कृष्णा मेनन ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। चीन समर्थक लॉबी ने चीन का स्तुति गान दिल्ली में इतने जोर से किया कि सरदार पटेल, जय प्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया, माधवराव सदाशिव

राव गोलवलकर आदि की चेतावनियाँ इस नक्कारखाने में गुम हो गईं। जिस समय चीन भारत पर आक्रमण करने के लिए सक्षम हो गया तो उसने १९६२ में एक क्षण का भी विलम्ब किए बिना भारत को परास्त ही नहीं किया बल्कि उसे पड़ोसी राज्यों के बीच अपमानित करके यह सिद्ध करने की कोशिश की कि भारत की औकात पाकिस्तान वाले अखाड़े में ही कुश्ती लड़ने की है, हिमालय पर कुश्ती लड़ने की न उसमें ताकत है और न ही यह बराबर के जोड़ की कुश्ती है। चीन से हार जाने की मानसिकता से ग्रस्त भारत ने एक बार फिर पाकिस्तान के साथ मैदानों में बने अखाड़े को ही अपना मुख्य अखाड़ा बना लिया। दरअसल चीन भारत को यही संदेश देना चाहता था कि उसकी दृष्टि में भारत की स्थिति उसके इर्द-गिर्द के कमजोर और छोटे पड़ोसी राज्यों के समान ही है। पाकिस्तान ने जितनी बार भी भारत पर आक्रमण किया, भारत ने उसे परास्त ही किया। परन्तु अमेरिका समेत अन्य पश्चिमी राष्ट्रों ने इस लड़ाई को कभी भी उसकी अंतिम परिणति तक पहुँचने नहीं दिया। उन्होंने कभी भी पाकिस्तान की रीढ़ की हड्डी नहीं टूटने दी और दिल्ली पर दबाव डालकर उसे निर्णायक युद्ध लड़ने से बीच में ही रोक दिया और स्वयं पाकिस्तान के घावों की दोबारा मरहम पट्टी में जुट गए। १९४७ के कश्मीर आक्रमण से लेकर १९९९ के कारगिल आक्रमण तक भारत पर अमेरिकी दबाव के अनेक सबूत मिल ही जाएंगे। शीत युद्ध के समाप्त हो जाने, सोवियत संघ के बिखराव के बाद अमेरिका भारत के मुकाबले स्पष्ट ही चीन का पक्षधर और सहायक हो गया है। उसका मुख्य कारण यह है कि अमेरिका समेत पश्चिमी जगत् को चीन से सांस्कृतिक खतरा नहीं है।[८] जबकि भारत से उसका सांस्कृतिक संघर्ष भी है। इसी सांस्कृतिक संघर्ष में विजय पाने के लिए वह चीन और पाकिस्तान का पक्षधर है। इसलिए अमेरिका चाहता है कि भारत चीन के मुकाबले सैन्य दृष्टि से कमजोर ही बना रहे।

इसके विपरीत हिमालय के शिखरों पर, जहाँ भारत के लिए असली खतरा पनप रहा था और आज भी पनप रहा है, भारत सरकार को भविष्य

के युद्ध को भाँपकर एक सुदृढ़ अखाड़े का निर्माण करना चाहिए था। पर पंडित नेहरू, अखाड़ा तो दूर सेना तक भी रखने के पक्षपाती नहीं थे। कांग्रेस के ही सांसद डा. सत्यनारायण सिन्हा ने १९५२ में ही जब लोकसभा में खड़े होकर कह दिया था कि चीन हिन्दुस्थान पर हमला ही नहीं करेगा बल्कि हिमालय को हड़पने की कोशिश भी करेगा, तब नेहरू के शिष्यों ने सिन्हा को गद्दार तक घोषित किया, उन्हें अपमानित किया और १९५७ के चुनावों के लिए उन्हें टिकट भी नहीं दिया। प्रश्न यह है कि छः दशकों के उपरांत चीन से एक युद्ध हार जाने के बाद भी भारत और चीन कहाँ खड़े हैं? और उन दोनों के बीच में तिब्बत कहाँ हैं? भारत में सरकार को चीन की प्रकृति और इरादों को लेकर भ्रम हो सकता है, लेकिन जहाँ तक चीन का प्रश्न है, उसकी नीति और नीयत दोनों ही स्पष्ट हैं। वह अभी भी भारत को सबक सिखाना चाहता है। माओ की मौत के बाद जिस देंग की प्रशंसा चीन के बाहर और भीतर उदारवादी के तौर पर होती रही है, वे भारत के मामले में माओ का ही अनुसरण कर रहे थे। उन्होंने अमेरिका के रक्षा मंत्री को स्पष्ट बता दिया था कि भारत को एक बार फिर सबक सिखाने की जरूरत है।९

बहुत से लोग प्रश्न करते है कि क्या तिब्बत आजाद हो सकता है? क्या चीन तिब्बत से अपनी सेना वापिस बुला सकता है? ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से जुड़े हुए हैं जिससे तीसरा प्रश्न पैदा होता है कि क्या भारत और चीन के संबंध सुधर सकते है? ऐसा संभव है परन्तु चीन से संबंध सुधारने का कोई ठोस आधार भी चाहिए। बहुत से विद्वान् इस ठोस आधार के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य और दस्तावेज़ों की तलाश में लगे हुए हैं और वाक्चातुर्य को माँज रहे हैं। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में नैतिक तथा वैधानिक तर्कों के पक्ष-विपक्ष में होने से कार्य नहीं चलता। यदि ऐसा होता तो संयुक्त राष्ट्र संघ तिब्बत को आजाद करवा चुका होता। पाकिस्तान को १९४७ में कश्मीर पर आक्रमणकारी घोषित कर चुका होता और अमेरिका इराक पर आक्रमण नहीं करता। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संबंधों के आधार शक्ति से ही विकसित होते हैं। शक्तिशाली होने

का अर्थ यह नहीं है कि शक्तिशाली देश को पड़ोसी देशों या अन्य देशों पर आक्रमण करना होता है या उन्हें धमकाना होता है। यह भ्रम है। शक्तिशाली देश की शक्ति ही संतुलन बनाए रखती है। यदि भारत शक्तिशाली होगा तो चीन से न्यायोचित आधार पर बातचीत भी की जा सकती है और तिब्बत की समस्या का समाधान भी निकाला जा सकता है। शक्तिशाली भारत से दोस्ती करने में चीन को भी कोई दिक्कत नहीं होगी और तब चीन को न तिब्बत में सेना रखने की जरूरत होगी और न ही भारत को हिमालय में अरबों रुपये खर्च करने होंगे। लेकिन यह तभी संभव है यदि भारत शक्तिशाली होगा। निर्बल भारत से चीन दोस्ती नहीं करेगा, अलबत्ता जैसा पूर्व सेनाध्यक्ष शंकर रायचौधुरी ने कहा है, समझौते कर सकता है। लेकिन तिब्बत की समस्या समझौते से हल नहीं होगी। उसके लिए दोस्ती ही चाहिए और दोस्ती का आधार है शक्ति।

रक्षा मामलों के विशेषज्ञ मेजर जनरल विनोद सहगल (सेवानिवृत्त) ने भारत–चीन और तिब्बत के त्रिकोण का एक अन्य यर्थाथवादी विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार इक्कीसवीं शताब्दी में विश्व परिदृश्य बदला है और उसे बीसवीं शताब्दी की छाया में नहीं देखा जा सकता। चीन ने तिब्बत में जो इतना बड़ा सैन्य जमावड़ा बिठा रखा है, वह दलाई के शान्तिपूर्ण अनुयायियों को कुचलने के लिए तो हो नहीं सकता क्योंकि इस काम के लिए इतनी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। इसका अर्थ यह है कि चीन भविष्य में भारत पर आक्रमण करने के लिए तिब्बत का प्रयोग आक्रमण स्थल के रूप में कर सकता है। चीन तिब्बत के प्रश्न को लेकर ही भारत पर आक्रमण की सोचे, ऐसा भी प्रथम दृष्ट्या सही नहीं लगता क्योंकि भारत और चीन में सीमा को लेकर विवाद हो सकता है पर जहाँ तक तिब्बत का प्रश्न है, भारत तो पहले ही उसे चीन का हिस्सा स्वीकार कर चुका है। दलाई लामा ने भी अपने अनुयायियों से चीन के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष का कभी आह्वान नहीं किया। चीन यदि तिब्बत से सैन्य बल नहीं हटाता तो भारत को भी विवशता में पूर्वी हिमालय का सैनिकीकरण करना पड़ेगा और वह कर भी रहा है। दोनों पक्षों

के इस सैनिकीकरण प्रक्रिया से भविष्य में युद्ध की संभावना ज्यादा बढ़ जाती है। इस युद्ध का परिणाम चाहे जो भी हो, लेकिन तिब्बत का बन्द प्रश्न तो एक बार जिन्दा हो ही जाएगा। इस बार विश्व के अन्य देश भी तिब्बत के पक्ष में खड़े हो सकते हैं क्योंकि पहले भी विश्व के अन्य देश तिब्बत के पक्ष में इसलिए नहीं खड़े हुए थे क्योंकि भारत ने तिब्बत के साथ खड़े होने से इन्कार कर दिया था। विनोद सहगल के अनुसार यह चीन के हित में ही होगा कि वह तिब्बत से सेना हटाए। लेकिन इससे तिब्बत के प्रश्न का समाधान कैसे होगा? इसके लिए विनोद सहगल का मानना है कि चीन तिब्बत में हान चीनियों को बसाना बंद ही न करे, बल्कि अभी तक बसाए गए हान चीनियों को वहाँ से हटाने की योजना भी बनाए। तिब्बत के लोगों पर दमन बन्द करे। दलाई लामा और उनके प्रतिनिधियों को सभी तिब्बती मठों को पुनः क्रियाशील बनाने की पूरी स्वायत्तता दे।[१०]

विनोद सहगल का यह विश्लेषण महत्वपूर्ण है, लेकिन इसमें एक संभावना को नजरंदाज किया गया है। पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली और साम्यवादी शासन प्रणाल के भीतरी अन्तर्विरोधों से भविष्य में चीन टूट भी सकता है। तब विश्व की राजनीति में भी नए समीकरण उभर सकते है। साम्यवादी रूस, चीन से भी ज्यादा शक्तिशाली था, लेकिन उसे तोड़ने के लिए किसी को एक भी गोली नहीं चलानी पड़ी। चीन के टूटने पर तिब्बत के लिए भी रास्ता निकल सकता है। पर यह सब भविष्य के गर्भ में है। तिब्बतियों की असली शक्ति न उनका सैन्यबल है और न ही संख्याबल, उनकी असली शक्ति है तिब्बत के भीतर और बाहर 'तिब्बतीपन' को जीवित रखना। अभी तक वे उसमें सफल हुए हैं।

इसी मोड़ पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की भूमिका आती है। संघ भी 'तिब्बतीपन' को जो पूरे एशिया की समग्र सांस्कृतिक चेतना का प्रतिफलन ही है, बचाए रखने का वैचारिक सांस्कृतिक आन्दोलन है। यहाँ 'तिब्बतीपन' का अर्थ एशिया की सनातन सांस्कृतिक चेतना से भी लिया जा सकता है। तिब्बत में यह 'तिब्बतीपन' है, थाईलैण्ड में 'थाईपन' और भारत में 'भारतीपन'

या भारतीयता। लेकिन इस सनातन सांस्कृतिक प्रवाह का मूलाधार एक ही है। एशिया की इस समग्र सांस्कृतिक चेतना को साम्यवाद की मानव विरोधी विचारधारा से लोहा लेना है। चीन इस समय इसी मानव विरोधी विचारधारा का अगुआ है। तिब्बत उससे पिछले पचास साल से लड़ रहा है। अभी उसने पराजय नहीं स्वीकारी है। वह पराजय न स्वीकारे इसीलिए भारत में संघ को तिब्बत के प्रश्न को अपनी वैचारिक कार्यसूची में महत्वपूर्ण स्थान देना है। तिब्बत द्वारा पराजय स्वीकार करने का अर्थ होगा धर्म की पराजय, न्याय एवं सत्य की पराजय, एशिया की समग्र सांस्कृतिक चेतना की पराजय जिसके केन्द्र बिन्दु में भारत है। इसलिए प्रकारांतर से भारत की पराजय। एशिया की इस समग्र सनातन सांस्कृतिक चेतना को माओ ने नकार दिया था। उसने मार्क्सवाद के भौतिकवादी दर्शन को स्वीकार कर लिया था। नेहरू भी चिंतन के स्तर पर माओ और मार्क्स के ज्यादा समीप थे। वे इस सनातन सांस्कृतिक प्रवाह की उपादयेता एवं सामयिक प्रासंगिकता को लेकर संशय की स्थिति में थे। शायद इसीलिए वे चीन से लड़ नहीं पाए।

दलाई लामा पहले हल्ले में माओ के आकर्षण में आ गए थे। माओ की समानता, विश्वबन्धुत्व और शोषणविहीनता की चिन्ता से दलाईलामा आकर्षित हुए थे। इन मूल्यों का विरोध न कोई करता है और न ही कर सकता है। लेकिन ये साम्यवाद और मार्क्सवाद के ऊपरी चेहरे हैं। उसके भीतर छिपा है उसका असली चेहरा। माओ का यही चेहरा देखकर दलाई लामा भयभीत हो गए थेऔर साथ ही उसके मोह पाश से मुक्त भी ।[११] माओ जिस धर्म को जहर बता रहे थे, वही धर्म एशिया की सनातन सांस्कृतिक संस्कृति का प्राणाधार है और वही मनुष्य को पशु से अलग करता है। वही मानव समाज की लाखों साल की सांस्कृतिक यात्रा की उपलब्धि है। दलाई लामा इस मोह पाश से मुक्त होते ही एशिया के सनातन सांस्कृतिक प्रवाह की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गये। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और श्री गुरु जी तो पहले ही इस पावन प्रवाह के मार्ग में जम आई शैवाल को साफ करने के कार्य में लगे हुए थे।

आज न तो पंडित नेहरू हमारे बीच में हैं और न ही माओ। श्री गुरुजी भी हमारे बीच में नहीं है। परंतु तिब्बत समस्या के समाधान के लिए श्री गुरुजी द्वारा दिया गया उनका सूत्र आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना आज से पचास साल पहले था। यह सांस्कृतिक संघर्ष है। तिब्बत की मुक्ति इसकी विजय का महत्वपूर्ण पड़ाव सिद्ध होगा।



संदर्भ

आत्म कथ्य

१. श्याम नाथ मिश्र (सं), सम्मेलन पत्रिका २००४ से उद्धृत पृष्ठ : ११७
२. विजय क्रांति, भारत और तिब्बत से उद्धृत पृष्ठ : ७७
३. ओ. व. मर्तीशिन, जवाहरलाल नेहरू और उनके राजनैतिक विचार, पृष्ठ : ८६
४. न्यूयार्क टाइम्स, ५ मई १९६८, तत्कालीन रक्षा मंत्री जार्ज फर्नांडिस ने यह वक्तव्य दिया था
५. चीन ने वियतनाम पर १९७८ में आक्रमण किया था और देंग ने इसका कारण सबक सिखाना ही बताया था। सुब्रह्मण्यन स्वामी, इंडियाज चायना प्रोसपेक्टिव, पृष्ठ : १७८
६. दोहाकोष गीति, पृष्ठ : २२

प्रथम अध्याय

१. अर्चा टुलकु, महात्मा चोङ्खापा जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व पृष्ठ : ३१-३२
२. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश
३. ऋचा श्रीवास्तव, भारत तिब्बत सम्बन्ध, पृष्ठ : १-२

४. वाचस्पति गैरोला, भारत के उत्तर–पूर्व सीमांत देश, पृष्ठ : १२

५. रेणु ठाकुर, तिब्बती रामायण–एक अध्ययन, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय का पीएचडी. का अप्रकाशित शोधप्रबंध

६. ओ.सी. हाण्डा, बुद्धिस्ट वैस्ट्रन हिमालय भाग–प्रथम, पृष्ठ : ३१९

७. तरूण विजय, साक्षात् शिव से संवाद, पृष्ठ : ३१

८. डब्ल्यू.डी.शकपा, ए पालिटिकल हिस्टरी ऑफ तिब्बत, पृष्ठ : १३

९. माधव राव सदाशिव गोलवलकर, विचार नवनीत, पृष्ठ : ८५

१०. साक्यपा सोनम ग्यालछेन, दी क्लीयर मिरर, पृष्ठ : २८३–८४

११. ऋचा श्रीवास्तव, भारत तिब्बत सम्बन्ध, पृष्ठ : १४२

द्वितीय अध्याय

१. अमर्त्य सेन, दि आरगुमैंटेटिव इंडियन से उद्धृत पृष्ठ : ३७६

२. एल.एल. मेहरोत्रा, इंडियाज तिब्बत पॉलिसी, पृष्ठ : ८

३. राहुल सांकृत्यायन,माओ–चे–तुंग, पृष्ठ : ३१७

४. हेमेन राय, पीकिंग एण्ड दी इंडियन कम्युनिस्ट, पृष्ठ : ८

५. हेमेन राय, पीकिंग एण्ड दी इंडियन कम्युनिस्ट, पृष्ठ : १६

६. तारचिन बाबू मूलतः हिमाचल प्रदेश के किन्नौर जिला के पूह गांव के रहने वाले थे

७. छेरिंग शाक्या, दी ड्रैगन इन दी लैंड आफ स्नोज, पृष्ठ : ८०

८. या हानझांग, दी बायोग्राफीज ऑफ दी दलाई लामाज, पृष्ठ : ४१७

९. या हानझांग, दी बायोग्राफीज ऑफ दी दलाई लामाज, पृष्ठ : ४१८

१०. मैलबेक गोल्डस्टाईन, ए हिस्ट्री आफॅ मॉडर्न तिब्बत, पृष्ठ : ६३८

११. बी.के. देसाई, चायना–इंडियन रिलेशन्स, द चायनीज इनवेजन, संपादक वी.बी.कार्निक में संकलित, पृष्ठ : ११०

१२. मैलबेक गोल्डस्टाईन, ए हिस्ट्री ऑफ मॉर्ड्न तिब्बत, पृष्ठ : ६७३

१३. छेरिंग शाक्या, ड्रैगन इन दी लैंड ऑफ स्नोज, पृष्ठ : ५३

१४. छेरिंग शाक्या, ड्रैगन इन दी लैंड ऑफ स्नोज, पृष्ठ : ५७
१५. तिब्बत देश, नई दिल्ली, दिसम्बर २०००, पृष्ठ : ६२
१६. सिडनी विगनल, स्पॉई ऑन दि रुफ ऑफ दि वर्ड, पृष्ठ : ९,१०
१७. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–१०, पृष्ठ : १५१, १५२
१८. मैलबेक गोल्डस्टाईन, ए हिस्ट्री आर्फ़ माड्रन तिब्बत, पृष्ठ : ७७०
१९. दलाई लामा, आजाद शरणार्थी, पृष्ठ : ६८
२०. वी.बी. कार्निक, चाइनीज इनवेजन, पृष्ठ : ८१,८२
२१. के.एम. पणिक्कर, इन टू चाईनाज, बी.एन. मलिक की माई इयर्ज विद नेहरू से उद्धृत, पृष्ठ : १४८
२२. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–३, पृष्ठ : २१७
२३. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–३, पृष्ठ : २१७
२४. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–१०, पृष्ठ : १५०–१५१
२५. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–२, पृष्ठ : १५१
२६. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–११, पृष्ठ : ३०३
२७. हेमेन राय,पीकिंग एण्ड दि इंडियन कम्युनिस्ट, पृष्ठ : ३७
२८. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड –११, पृष्ठ : ३०३
२९. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ५, पृष्ठ : १९
३०. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ५, पृष्ठ : १८९
३१. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड ५, पृष्ठ : १९४
३२. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–३, पृष्ठ : २१७
३३. आर्गेनाइजर, नई दिल्ली, ३१ अगस्त, १९५९, स्टेट्समैन, २७ अगस्त, १९५९ में प्रकाशित
३४. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–३, पृष्ठ : २१७
३५. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–३ पृष्ठ : २१८–२१९
३६. दलाई लामा, आजाद शरणार्थी, पृष्ठ : १०६
३७. दलाई लामा, आजाद शरणार्थी, पृष्ठ : १०७

३८. दलाई लामा, आजाद शरणार्थी, पृष्ठ : १०७

३९. दलाई लामा, आजाद शरणार्थी, पृष्ठ : १०७

४०. दलाई लामा, आजाद शरणार्थी, पृष्ठ : १०७

४१. सत्य नारायण सिन्हा, एडरिफ्ट ऑन दि गंगा, पृष्ठ : २०५

४२. सत्य नारायण सिन्हा, एडरिफ्ट ऑन दि गंगा, पृष्ठ : २०४

४३. आर्गेनाइजर, नई दिल्ली, १४ सितम्बर, १९५९

४४. आर्गेनाइजर, नई दिल्ली, १४ सितम्बर, १९५९

४५. रमेश सिन्हा, जीवन संघर्ष, पृष्ठ : १८९

४६. मोहित सेन, ए ट्रेवलर एंड दी रोड-द जर्नी ऑफ एन इंडियन कम्युनिस्ट, पृष्ठ : २०१

४७. न्यू एज, नई दिल्ली, ५ अप्रैल, १९५९

४८. न्यू एज, नई दिल्ली, १० मई, १९५९

४९. न्यू एज, नई दिल्ली, ३ मई, १९५९

५०. राहुल सांकृत्यायन, माओ-चे-तुंग, पृष्ठ : ६

५१. राहुल सांकृत्यायन, माओ-चे-तुंग, पृष्ठ : ३६१

५२. न्यू एज, नई दिल्ली, १३ सितम्बर, १९५९

५३. हेमेन राय, पीकिंग एण्ड दी इंडियन कम्युनिस्ट, पृष्ठ : ६०

५४. आर्गेनाइजर, नई दिल्ली, २८ दिसम्बर, १९५९

५५. कमल किशोर गोयनका, पंडित दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन, पृष्ठ-२००

५६. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड-५ पृष्ठ : २०३

५७. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड-१० पृष्ठ : १५०

५८. आर्गेनाइजर, नई दिल्ली, २१ दिसम्बर, १९५९

५९. रमेश सिन्हा, जीवन संघर्ष, पृष्ठ : २२

६०. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड-१०, पृष्ठ : १५०

६१. हेमेन राय, पीकिंग एण्ड दि इंडियन कम्युनिस्ट, पृष्ठ : ७३

तृतीय अध्याय

१. उन दिनों भारत ब्रिटेन के अधीन था और भारतीय ब्रिटिश प्रजा ही कहे जाते थे
२. डी. आर. चौधुरी, दी नॉर्थ इस्ट फ्रंटियर ऑफ इंडिया, पृष्ठ : ८२–८५
३. डी. आर. चौधुरी, दी नॉर्थ इस्ट फ्रंटियर ऑफ इंडिया, पृष्ठ : ८६
४. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–२, पृष्ठ : २६७
५. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–५, पृष्ठ : २१८
६. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–५, पृष्ठ : २१६
७. चरण शाण्डिलय, भारत चीन सीमा विवाद, पृष्ठ : १२६
८. अजय.बी. अग्रवाल, इंडिया तिब्बत एण्ड चायना, पृष्ठ : १८३
९. इंडियन एक्सप्रैस, १४ दिसम्बर, १९९७, अजय बी. अग्रवाल, इंडिया तिब्बत एण्ड चायना से उद्धृत, पृष्ठ : १८३
१०. दी टाइम्स, लंदन, २२ नवम्बर, १९६२, चरण शाण्डिल्य, भारत–चीन सीमा विवाद से उद्धृत, पृष्ठ : १२६
११. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–३, पृष्ठ : २४६
१२. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–३, पृष्ठ : २४७
१३. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–११ पृष्ठ : ३०७
१४. चरण शांडिल्य, भारत–चीन सीमा विवाद, पृष्ठ : १२७
१५. सत्यनारायण सिन्हा, एडरिफ्ट ऑन द गंगा, पृष्ठ : २१४
१६. मा.स. गोलवलकर, श्री गुंरुजी समग्र, खण्ड–३, पृष्ठ : २४८
१७. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–३, पृष्ठ : २४६
१८. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–३, पृष्ठ : २४७
१९. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खंड–१०, पृष्ठ : १५७
२०. गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, इंडिया प्रिपेयर्स, पृष्ठ : ३
२१. गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, इंडिया प्रीपेयर्स, पृष्ठ : १५४
२२. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–१०, पृष्ठ : १५३
२३. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–१० , पृष्ठ : १७२

२४. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–१०, पृष्ठ : १६

२५. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–५, पृष्ठ : २२४

२६. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड–५, पृष्ठ : २२७

२७. आर के खिरमे से एक व्यक्तिगत बातचीत पर आधारित

२८. के.के. तिवारी, ए सोलजर्स वॉयज ऑफ सैल्फ डिस्कवरी, पृष्ठ : ९९

चतुर्थ अध्याय

१. प्रोफेसर दावा नोरबु बाल्यकाल में ही अपनी मां के साथ में भारत आ गये थे। बाद में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय नई दिल्ली में अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन विभाग में पढ़ाते थे। २९ मई २००६ को दिमाग की नस फटने से उनकी मृत्यु हो गई।

२. दावा नोरबु, तिब्बत दी रोड अहेड, पृष्ठ : १४५

३. दलाई लामा, आजाद शरणार्थी पृष्ठ : ११७

४. सीताराम गोयल, जैनिसिस एण्ड ग्रोथ ऑफ नेहरूइजम, भाग एक, पृष्ठ : १७

५. सीताराम गोयल, जैनिसिस एण्ड ग्रोथ ऑफ नेहरूइजम, भाग एक, पृष्ठ : २०५

६. जयप्रकाश नारायण, दि ट्रेजडी ऑफ तिब्बत, पृष्ठ : १६

७. भारतीय जन संघ, पार्टी दस्तावेज, खण्ड–३, पृष्ठ : १५५

८. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री, यात्रा के मील पत्थर से उद्धृत, पृष्ठ : ९–१४

९. रमेश चंद्र तिवारी, सम्मेलन पत्रिका २००१, पृष्ठ : १८३–१८५

१०. दलाई लामा, आजाद शरणार्थी, पृष्ठ : १५८

११. आनंद कुमार, तिब्बत मुक्ति आंदोलन और भारत, पृष्ठ : १५३

१२. आनंद कुमार, तिब्बत मुक्ति आंदोलन और भारत से उद्धृत, पृष्ठ : १११

१३. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खंड –१०, पृष्ठ : १८१

१४. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खंड –११, पृष्ठ : ३१८

१५. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खंड–११, पृष्ठ : ३१८

१६. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र,खंड –११, पृष्ठ : ३२८
१७. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र,खंड –१०, पृष्ठ : १५२
१८. दिल्ली में १९ जनवरी २००६ को आयोजित तिब्बत संवाद में प्रो. बजरंग लाल गुप्त ने यह प्रश्न उठाया था।
१९. हिन्दू विश्व, चैत वैशाख, १९०१
२०. तरुण विजय, कैलाश मानसरोवर यात्रा–साक्षात शिव से संवाद, आवरण पृष्ठ
२१. पाञ्चजन्य, नई दिल्ली, २१ दिसम्बर १९९७
२२. पंडित जगन्नाथ शर्मा से लेखक की एक व्यक्तिगत बातचीत पर आधारित
२३. चमल लाल गुप्ता, परम पावन दलाई लामा का नागरिक अभिनन्दन, पृष्ठ : २२–२३
२४. कुलदीप चंद अग्निहोत्री, तिब्बत समस्या की पृष्ठभूमि, पृष्ठ : ८–९
२५. चमन लाल गुप्ता, तिब्बत की आजादी भारत की सुरक्षा से उद्धृत, पृष्ठ : ५
२६. इंद्रेश कुमार, तिब्बत की त्रासदी, पृष्ठ : ९–१०
२७. इंद्रेश कुमार, तिब्बत की त्रासदी, पृष्ठ : १४
२८. इंद्रेश कुमार, तिब्बत की त्रासदी, पृष्ठ : २१–२४
२९. विजयदशमी उत्सव, नागपुर, युगाब्द ५१०४ उद्बोधन–पं.पू. सरसंघचालक मा. कुप्प सी. सुदर्शन, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ कार्यालय नागपुर में यह भाषण सुरक्षित है।
३०. विजयदशमी उत्सव, नागपुर, युगाब्द ५१०४ उद्बोधन–पं.पू. सरसंघचालक मा. कुप्प सी. सुदर्शन, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ कार्यालय नागपुर में यह भाषण सुरक्षित है।
३१. विजयदशमी उत्सव, नागपुर, युगाब्द ५१०४ उद्बोधन–पं.पू. सरसंघचालक मा. कुप्प सी. सुदर्शन, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ कार्यालय नागपुर में यह भाषण सुरक्षित है।
३२. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री (सं), हिमालयी क्षेत्र : आंतरिक एकता के सूत्र, पृष्ठ : १३

३३. तरूण भारत, नागपुर, १७ फरवरी,२००६
३४. हितवाद, नागपुर, १७ फरवरी, २००६
३५. पाञ्चजन्य, नई दिल्ली, १२ मार्च, २००६
३६. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री (सं) तिब्बत और तिब्बत के लोग, पृष्ठ : ४२
३७. छेरिंग शाक्या, दी ड्रैगन इन दी लैंड ऑफ स्नोज से उद्धृत, पृष्ठ : ४१५
३८. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री (सं) तिब्बत और तिब्बत के लोग, पृष्ठ : ४६
३९. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री (सं) तिब्बत और तिब्बत के लोग, पृष्ठ : ४७
४०. ग्यालो थोण्डुप तिब्बती समुदाय में प्रायः इसी नाम से जाने जाते हैं।
४१. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री (सं) तिब्बत और तिब्बत के लोग, पृष्ठ : ४८
४२. सुब्रह्मण्यम स्वामी, इन्डियाज चाइना प्रास्पेक्टिव, से उद्धृत पृष्ठ : २९
४३. चरण शांडिल्य, भारत चीन सीमा विवाद, पृष्ठ : १९०
४४. श्याम नाथ मिश्र (सं) सम्मेलन पत्रिका २००४ से उद्धृत पृष्ठ : ११०-१११
४५. ब्रह्म चेलानी, हिन्दुस्तान टाइम्स, ३१ जनवरी २०००
४६. यह जानकारी, तिब्बत अंडर कम्युनिस्ट चायना-५० इयर्स, अध्याय-बिग गन आन दी रूफ, पृष्ठ : ५६-६१ पर आधारित है।
४७. एडगर स्नो, विख्यात पुस्तक 'रेड स्टार ओवर चाइना' के लेखक हैं
४८. मा.स. गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र, खण्ड २, पृष्ठ-३२८
४९. सुब्रह्मण्यन स्वामी-देंग वार्ता, इंडिया टुडे, १-१५ मई, १९८१
५०. तिब्बत देश, जुलाई २००६ से उद्धृत, पृष्ठ : ३
५१. ब्रह्म चेलानी, तिब्बत देश, जुलाई २००६ से उद्धृत, पृष्ठ : ३

पंचम अध्याय

१. विजय शंकर चौबे, सम्मेलन स्मारिका १९९८ से उद्धृत, पृष्ठ : ६५
२. चमन लाल गुप्ता, तिब्बत की आजादी - भारत की सुरक्षा से उद्धृत, पृष्ठ : ४२
३. ब्लेक केरर, द स्काई बरियल, पृष्ठ : ११५

४. दसवें पंचेन लामा की मृत्यु २८ जनवरी १९८९ को शिगास्ते में तोशिलहुन्पो मठ में हुई थी, लेकिन बहुत से लोगों का मानना है कि चीन सरकार ने उनकी हत्या कर दी थी।

५. आजाद शरणार्थी, पृष्ठ : १०६

६. भारत ने चीन के १९६४ के विस्फोट के दस साल बाद १९७४ में परमाणु विस्फोट किया था और उसके बाद १९९८ में पाँच विस्फोट किए।

७. न्यूयार्क टाइम्स, ५ मई १९९८

८. पिछले दो दशकों से चीन में जिस गति से ईसाई मत ग्रहण करने का सिलसिला चला हुआ है, उससे चर्च स्वयं भी हैरान है।

९. छेरिंग शाक्या, दी ड्रैगन इन दी लैंड ऑफ स्नोज, पृष्ठ : ४०९

१०. विनोद सहगल, ग्लोबल सिक्योरिटिज पेराडॉक्सीज, पृष्ठ : ७१–७४

११. दलाई लामा, आजाद शरणार्थी, पृष्ठ : ९१



कम्युनिस्ट 'मुक्ति' का शिकार तिब्बत

(माधवराव सदाशिव गोलवलकर)

तिब्बत का हृदय विदारक कांड सबकी जिह्वा पर है। संसार के सभी लोग उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रकट कर रहे हैं। किंचित् दृष्टिपात ही प्रकट करता है कि आज विश्व ऐसे दो गुटों में विभक्त है जिनमें विश्वशांति जैसे महत्वपूर्ण विषय के बारे में एक दूसरे से नितांत विपरीत दृष्टिकोण है, मौलिक मतभेद है। यह अवस्था उस विश्वशांति के बारे में हैं, जो आज विश्व की प्रमुख शक्तियों के राजनैतिक सर्वेसर्वाओं के मस्तिष्क को परेशान किये हुए है, जो संसार के हर सच्चे शांतिप्रिय नागरिक के हृदय को साले हुए है। एक दूसरी बात भी पूर्वाग्रह दोष से युक्त लोगों को छोड कर सभी के लिए प्रत्यक्ष है कि भारत के नेता इनमें से किसी भी गुट से संबंधित न होकर पूर्ण रूप से तटस्थता की नीति अपनाने को इच्छुक हैं। यह भी सिद्ध हो चुका है कि तटस्थता का वास्तविक अभिप्राय निस्सहाय की ऐसी निष्क्रियता या घटित घटनाओं के प्रति निर्बल की ऐसी उपेक्षा नहीं है , जिसके कारण हमारे राष्ट्र की प्रतिष्ठा उस दर्शक जैसी हो जाए जो सहानुभूति तो रखता हो, किंतु नपुंसक हो। भारत की इस तटस्थता की अनेकों द्वारा यह कह कर आलोचना की जाती है कि वह निस्सहायता, निर्बलता, कायरता अथवा अदम्य साहस के अभाव के प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अधिकांशतः देश का कारोबार संभालने वाले उच्चपदस्थ की कार्रवाई ऐसी आलोचनाओं को

जन्म देती है। विशेष रूप से हमारे पश्चिम व पूर्व में स्थित उद्दंड पड़ोसी के व्यवहार के प्रति हमारे नेताओं ने जैसा व्यवहार किया है और कर रहे हैं, वह इस आलोचना की सत्यता का अकाट्य प्रमाण है। किंतु यहाँ घटनाओं को या ऐसी ही अन्य घटनाओं को लेकर सरकार का समर्थन या विरोध करना अभिप्रेत नहीं है। यहाँ तो केवल तिब्बत के प्रश्न पर विचार करने का निश्चय किया है, इस बात की कतई चिंता न करते हुए कि इसका प्रतिवाद भी किया जा सकता है। (इसकी संभावना है, क्योंकि आज लोगों को हर समय किसी भी वस्तु की और हर वस्तु की आलोचना करते हुए देखा जा सकता है) यद्यपि यह कहा जा सकता है कि तिब्बत के राजनैतिक और धार्मिक सर्वेसर्वा दलाई लामा को शरण देकर हमारी सरकार ने पहली बार ही क्यों न हो, अच्छा कार्य किया है तथा उसका यह कार्य अंतरराष्ट्रीय मामलों में गतिशील तटस्थता के सिद्धांतों के अनुकूल है तथापि हमारी सरकार की गतिशील तटस्थता की नीति के परिणामों के प्रति विभिन्न देशों ने जो प्रतिक्रियाएँ की हैं, उनके रूप में तो संसार के दोनों गुटों के बीच विद्यमान तीव्र विरोध ही सामने आया है।

चीनी–रूसी गुट–

इन दोनों गुटों में अधिक सक्रिय तथा लडाकू है चीनी–रूसी गुट। उसके साथ उसके अनेक अनुचर राष्ट्र हैं तथा अनेक राष्ट्रों में निवास करने वाले अनेक अनुचर लोग हैं, जो अभी तक उक्त गुट के पूरी तरह गुलाम नहीं बन पाये हैं। निश्चय ही कुछ लोग ऐसे होंगे जो इसका प्रतिवाद करेंगे और वे यह सिद्ध करने की कोशिश करेंगे कि सोवियत शासकों की इस प्रकार की कोई स्वार्थी आकांक्षाएँ नहीं हैं, कोई साम्राज्यवादी लालसाएँ नहीं हैं। वे जो कुछ कर रहे हैं वे तो पूँजीवादी, साम्राज्यवादी पश्चिमी शक्तियों के जुए से निर्बल लोगों के कंधों को मुक्त करने के लिए है। वे तिब्बत के मामले में भी यही प्रमाण प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे तथा चीनी, जो संसार पर राज्य करने के उद्देश्य से गठित सोवियत गुट का एक प्रमुख हिस्सेदार है, के पवित्र इरादों के प्रति शंका व्यक्त करने वालों पर अनेक प्रकार के आरोप लगाएँगे। यहाँ तो उद्देश्य ही नहीं है कि पश्चिमी अथवा सोवियत गुट में से किसी की वकालत की

जाय। यहाँ तो केवल एक ही उद्देश्य है–एक अत्यंत महत्वपूर्ण शब्द मुक्ति का अर्थ समझना और उसे स्पष्ट करना।

हर संप्रदाय की अपनी एक भाषा होती है और उसके प्रमुख शब्दों का प्रचलित अर्थ नहीं होता। वे अत्यंत टेक्निकल और विशेषार्थ होते हैं। सोवियत प्रणाली ने भी ऐसे शब्द समूह विकसित किये हैं जिनके शब्द तो प्रचलित रहते हैं किंतु उनके अर्थ प्रचलित, सर्वस्वीकृत नहीं रहते। उनका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि पाठक उनके प्रचलित अर्थों को मस्तिष्क में रख कर उनकी ओर आकर्षित होता है और फिर उससे वह अर्थ स्वीकार करवाया जाता है जिसकी उसे कल्पना भी नहीं रहती कि उस शब्द का यह अर्थ भी हो सकता है। मुक्ति तथा उसी का भाव व्यक्त करने वाली मुक्ति सेना आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। पहले तो वे आकर्षित कर लेते हैं किंतु अंततोगत्वा वे अपने खूनी पंजे दिखाते हैं लेकिन तब तक समय हाथ से निकल चुका होता है।

पाश्चात्य गुट–

यह विस्मृत नहीं होना चाहिए कि मौलिकता का सारा श्रेय सोवियत संप्रदाय को भी नहीं दिया जा सकता। सदियों से आदमी जैसा का तैसा बना हुआ है। भौतिक प्रकृति पर विजय पाने और फलस्वरूप अधिक ऐशोआराम की जिंदगी बसर कर सकने की दृष्टि से यह सब बातें सही हो सकती हैं, किंतु जहाँ तक मानव के मस्तिष्क व सांस्कृतिक उपलब्धियों का संबध है उनमें किसी प्रकार की उन्नति नहीं हुई है। इसी का परिणाम है कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती दिखती है। भूतकाल में सभी साम्राज्यवादी शक्तियों ने इन्हीं भावों का प्रयोग किया है। अपनी विस्तारवादी नीति, नृशंस लूटपाद़ को नैतिकता का जामा पहना कर अपनी बुद्धि को शांत करने का प्रयास करते हैं। विगत तीन शताब्दियों में संसार के असभ्य लोगों को सभ्य बनाने के नाम पर और इस सिद्धांत की दुहाई देकर कि संसार के अन्य भागों में अंधकार में काम करने वाले दुपायों को आदमी बनाने का भार श्वेत लोगों के कंधों पर है। यूरोपीय शक्तियाँ दक्षिणी व उत्तरी अमेरिका, अफ्रिका व एशिया में विनाश और मृत्यु का संदेश लेकर अपने साम्राज्य स्थापित करती हुई, भूखंडों को उजाडती हुई

और कहीं तो वीरान करती रही है। ईसाइयत और इस्लाम ने भी अपने विस्तार के लिएह्नकिन्हीं श्रेष्ठ साधनों का सहारा नहीं लिया (इतिहास साक्षी है), किंतु घोषणा सदा यही की कि काफिरों को जादू टोने के जंगली विश्वासों से निकाल कर सच्चे खुदा के पास ले जाया जा रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो दोजख से मुक्ति दिलाकर बहिश्त पहुँचाने के लिए।

महमूद गजनवी के बहकावे में-

मेरे सामने अपने देश के इतिहास का एक विश्वसनीय उदाहरण उपस्थित है। सोमनाथ मंदिर की अतुल संपत्ति की कहानी सुन कर महमूद गजनवी ने मंदिर को लूटने के इरादे से चढ़ाई की। उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस देश के पंजाब, राजस्थान, तथा सौराष्ट्र की हजारों मील भूमि पार करनी पड़ी। ये कोई निर्जन प्रदेश नहीं थे। वहाँ वीर पुरुषों का वास था और उनके छोटे छोटे राज्य थे जो गुजरात के शासकों से शिथिल निष्ठा से बँधे हुए थे। यह एक तथ्य है जो विशेष रूप से राजस्थान और सौराष्ट्र के छोटे-छोटे राज्यों के बारे में तो सत्य ही है। कहा जाता है कि गुजरात का प्रभुत्व लगभग पूर्व में अजमेर तक, उत्तर में कच्छ तक, दक्षिण में कल्याण तक तथा पश्चिम में समुद्र तक व्याप्त था। यदि इन छोटे-छोटे राजाओं ने महमूद का विरोध करने का निश्चय किया होता तो सोमनाथ तक उसका पहुँचना असंभव ही होता। इसके अतिरिक्त राजस्थान का रेगिस्तान,उसके मार्ग में सबसे बडी बाधा थी। यदि उसने विस्तीर्ण रेगिस्तान, जहाँ व्यवस्थित सडकें नहीं थी, को पार करने का इरादा किया होता तो वह भटक गया होता। आश्रय, भोजन व पानी के अभाव में उसकी सेना संकट में पड़ गयी होती। किंतु एक सफल आक्रमणकारी के समान उसने घोषणा की कि वह समस्त छोट़े-छोटे राजाओं का मित्र है और गुजरात के साम्राज्यवादी जुए से उनको मुक्ति दिलाने के विशेष उद्देश्य से आया है। मुक्ति शब्द ने जादू का काम किया। मार्ग के राजा उसके बहकावे में आ गये तथा उसका सामना करने के स्थान पर उसे हर प्रकार की सहायता देने का निश्चय किया। आगे की कथा सबको पता ही है, इसे फिर कहने की जरूरत नहीं है। महमूद की हार्दिक इच्छा पूर्ण हो गयी किंतु मुक्ति के भ्रम में उलझे राजाओं को

पता चल गया कि उसका अर्थ अपने आत्मीयों व संबंधियों से मुक्ति मिलने के अतिरिक्त कुछ नहीं था, साथ ही विदेशी दासता की निर्दय जंजीरें, जो कभी टूटने वाली नहीं थी, उन्हें जकड लेने वाली थीं। मानो वे जीवन से मुक्त होकर बेरोक टोक विनाश और मृत्यु के मुँह में चले गये।

इतिहास दोहरा रहा है-

लगता है, इतिहास अपने को दोहरा रहा है। समस्त प्रकार के विरोध को प्रभावहीन कर और सामूहिक हत्याकांडों तथा असभ्य बर्बरताओं को, निर्बलों की सहायता, मानव कल्याण, सुखी संपन्न जीवन की स्थापना व विश्वशांति की खोखली बातों के झीने परदे से ढक कर आक्रमणकारियों की विस्तारवादी योजनाओं की पूर्ति के लिए इस शब्द का आज फिर से प्रयोग किया जा रहा है। यह सब मानव की लिप्सा, विस्तारवादी वृत्ति तथा निरंकुशता का ही नया रूप है, जो आज खुलकर तिब्बत में मृत्यु का तांडव रच रहा है।

इतिहास का अध्ययन वर्तमान पीढी के मार्गदर्शन के लिए है। उसकी शिक्षा साफ और स्पष्ट है। तिब्बत में चीनी विजय पर खुशियाँ मनाने वालों के लिए तथा अपने इस देश में भी इसी प्रकार के मुक्ति का स्वप्न देखने वालों के लिए इतिहास का यह सबक है।

रूसियों को संकेत-

इतिहास की रूस के लिए भी शिक्षा है। तिब्बत की घटनाओं से वहाँ के नेता प्रसन्न हो सकते हैं। हो सकता है, वे सोच रहे हों कि उनका मित्र संभवतः अनुचर चीन अपना कार्य अच्छी प्रकार से कर रहा है और विस्तृत क्षेत्र में सोवियत प्रभाव फैला रहा है। किंतु यह भूलना नहीं चाहिए कि चीनियों के रग-रग में अहंकार, अहमन्यता और हठवादिता कूट-कूट कर भरी हुई है। अतीतकालीन व्यापक चीनी साम्राज्य का आदर्श चीनी भूले नहीं हैं। यदि ऐसे चरित्र वाले एक अनुचर या यहाँ तक कि एक मित्र का दिमाग मिलने वाली विजयों से फिर जाये तो स्वयं रूस और रूस की प्रभुता के लिए खतरा सिद्ध हो सकता है तथा कालांतर में यह भी असंभव नहीं कि आज का अनुचर कल स्वामी बन जाये, अति नृशंस स्वामी। ऐसी बातें पहले

भी हुई हैं तो अब क्यों नहीं हो सकती ? आदमी की प्रकृति सदियों के बाद भी वैसी ही है। इसलिए इतिहास की पुनरावृत्ति असंभव नहीं है।

समय रहते उपाय किया तो हो सकता है कि रूस इस हानि से अपनी रक्षा कर सके। तिब्बत कांड ने उसे एक अनुपम अवसर प्रदान किया है। यदि आज रूस के नेता हस्तक्षेप कर चीनी विस्तारवाद को रोकते हैं और तिब्बत में दलाईलामा के न्यायपूर्ण सुप्रतिष्ठित शासन को बनाये रख कर उसकी स्वाधीनता के जामिन रहते हैं, तो चीन पर अंकुश रखने में यथेष्ट सफलता प्राप्त होगी। इससे भी बड़ी बात यह है कि दोनों गुटों के बीच विद्यमान संदेह, भ्रांति तथा पारस्परिक अविश्वास का वातावरण समाप्त हो जाएगा जिसके परिणामस्वरूप विश्वशांति का मार्ग प्रशस्त होगा तथा उस तनाव का अंत होगा जिसके कारण मानवता बुरी तरह त्रस्त है।

यह सब जिनसे संबंधित है वे क्या इतिहास से उपयुक्त शिक्षा ग्रहण करेंगे ? यदि वे ऐसा करते हैं तो मानवता का संरक्षण होगा अन्यथा हमें एक सुंदर संसार की स्थापना के लिए तूफानों के बीच एक बडे आकस्मिक संकट का सामना करने के लिए कमर कसनी होगी ।

(पाञ्चजन्य, १८ मई १९५९)



तिब्बत-एक सिंहावलोकन

क्षेत्रफल : २५ लाख वर्ग किमी जो वर्तमान चीन के कुल क्षेत्रफल का २६.०४ प्रतिशत है।

राजधानी : ल्हासा

जनसंख्या : ६० लाख तिब्बती

धर्म : बौद्ध

भाषा : तिब्बती (चीनी कब्जे के कारण सरकारी भाषा चीनी)

पर्यावरण संबंधी प्रमुख समस्या : वनों की अंधाधुंध कटाई तथा स्तनपायी पशुओं का व्यापक स्तर पर शिकार

समुद्र तल से औसत ऊंचाई : १४००० फुट

सर्वोच्च पर्वत : जोमोंलांग्मा/सगरमाथा/एवरेस्ट

औसत तापमान : जुलाई ५८ डि. फा., जनवरी ४ डि.फा

मुख्य नदियां : सांगपो (ब्रम्हपुत्र), यांग्तसे, मैकोंग, सालवीन, हुआंग-हो, सिन्धु तथा सतलुज

अर्थव्यवस्था : तिब्बती लोग मुख्यतः कृषि और पशुपालन, चीनी लोग मुख्यतः सरकारी, वाणिज्य तथा अन्य सेवाओं से संबंधित उपक्रमों में।

प्रांत : उ-त्सांग, अम्दो तथा खम्

सीमान्त देश : भीतरी मंगोलिया, पूर्वी तुर्किस्तान, भारत, नेपाल, भूटान, म्यांमार तथा चीन

देश के प्रमुख : महामहिम दलाई लामा

जनवादी चीन से संबंध : औपनिवेशिक

निर्वासित तिब्बती सरकार : जनसंख्या : लगभग १२२,०७८ (विश्व-व्यापी तिब्बती जनसंख्या का अनुमान भारत : ८५१४७, नेपाल :१३७२०, भूटान : १५८४, स्विट्जरलैंड : १५३८, अमरीका और कनाडा : ७०००, ताइवान : १०००, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड : २२० (योजना परिषद, धर्मशाला द्वारा १९८८ में किए गए तिब्बती जनसंख्या संबंधी सर्वेक्षण पर आधारित।)

निर्वासित सरकार की कार्यप्रणाली : तिब्बती मूल्यों से युक्त लोकतांत्रिक सरकार द्वारा शासित। इसमें स्वतंत्र न्यायपालिका, प्रत्यक्ष रूप से निर्वासित विधान मंडल तथा कार्यपालिका व मंत्रिमंडल है जो संसद के प्रति सीधे उत्तरदायी है।

संविधान : निर्वासित तिब्बती समुदाय का चार्टर

सरकार का केन्द्र : धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश)

विदेशों में तिब्बती कार्यालय : तिब्बत के दूतावास नई दिल्ली, काठमांडू, न्यूयार्क, लंदन, पैरिस, जेनेवा, मास्को, कैनबरा, टोक्यो, प्रिटोरिया तथा ताइपेइ में स्थित हैं।

जीविका : खेती, खेती पर आधारित उद्योग, स्वैटर बेचना, हस्तकला का निर्यात तथा कुछ अन्य सेवाओं से संबंधित उपक्रम।

शिक्षा : स्कूल जाने योग्य बच्चों में से ८५ प्रतिशत से ९० प्रतिशत का स्कूलों में पंजीकरण। इस समय १०६ नर्सरी स्कूल, ८७ प्राथमिक, ४४ मिडल, २१ सैकेण्डरी तथा १३ सीनियर सैकेण्डरी स्कूल हैं, जिनमें कुल २५००० विद्यार्थी पंजीकृत हैं।



तिब्बत पर भारतीय जन मानस

तिब्बती स्वायत्त शासन के मुद्दे पर भारत सरकार के कठोर और निश्चित रवैये से ही चीन सही हो सकता है। दोनों देशों के बीच मित्रता बनाये रखने के लिए इस तरह का रवैया जरूरी है। मित्रता विश्वास और सम्मान, समानता और परस्पर लाभ पर आधारित होनी चाहिये न कि भय और गलतफहमी पर। लिहाजा दलाई लामा को अपने लोगों को आजादी की लड़ाई लड़ने का निर्देश देने के लिए हर तरह की सुविधायें मिलनी चाहियें। भारत के हितों के लिए यह जरूरी है। अगर नेहरू इस नीति को अपनाने में विफल रहे तो वे खुद को इस बाबत राष्ट्रीय सोच से अलग कर लेंगे। यह माना गया है कि इस नीति में कुछ विशेष जोखिम होंगे। लेकिन हमें उन्हें उठाना होगा।

–दीन दयाल उपाध्याय

अपने समस्त समझौतों को तोड़ कर जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया, तब वह उससे कम अनैतिक और भयावह नहीं था, जो एक समय में नात्सी जर्मनी ने चैकोस्लोवाकिया के साथ किया था। इन दो ऐतिहासिक त्रासदियों के बीच एक और अद्भुत समानता थी– बड़े महाबली राष्ट्रों की तटस्थ चुप्पी। हिटलर की महत्वाकांक्षाओं को तुष्ट करने के जो घातक परिणाम समूची मानवता को भुगतने पड़े, उन्हें भुलाकर आज चीन के साथ हर तरफ से जो आर्थिक और व्यापारिक संबंधों को बनने की आकुलता दिखाई देती है, इससे अधिक आश्चर्य की बात और

क्या हो सकती है? इतिहास से क्यों हम कुछ सीख नहीं सकते? क्या इसलिए वह अपने आपको दोहराता रहता है?

–निर्मल वर्मा, प्रख्यात साहित्यकार

यदि भारत दृढ़ता के साथ कह देता कि हम तिब्बत को चीन का प्रदेश नहीं वरन् स्वाधीन देश मानते हैं, इस पर चीन द्वारा आक्रमण करना हमारे लिए अहितकर होगा तो चीन रूक जाता। चाहे वे कितना भी रुष्ट होता, लेकिन उस समय आगे न बढ़ता। यदि चीन नहीं मानता और हम को युद्ध भी करना पड़ता, तो भी बुरा न होता। दूसरे देशों को भी स्वतंत्र होने के तुरन्त बाद लड़ना पड़ा है। धन–जन की हानि होती, विकास कार्य रूक जाता, परन्तु देश की भावनात्मक एकता कई गुणा बढ़ जाती। हमारे चरित्र में दृढ़ता आती, भविष्य के लिए सुरक्षा बढ़ती और राष्ट्रों की दृष्टि में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ती। मेरा विश्वास है कि हम तिब्बत को भी बचा लेते।

–सम्पूर्णानन्द

तिब्बत का विनाश इतिहास में पहचाना जायेगा, खासतौर से जब आदमी थोड़ा और जागरूक तथा मानवता कुछ और मानवीय होगी। यह बीसवीं सदी की सबसे बड़ी विपदा है कि तिब्बत भौतिकवादियों के हाथों में पड़ गया है, जो यह नहीं मानते कि तुम्हारे अन्तर में कुछ है। ....और हम सोचते हैं कि यह दुनिया सभ्य है, जहाँ निर्दोष लोग, जो किसी की हानि नहीं कर रहे हैं सहज ही नष्ट किये जाते हैं। उनके साथ ही सम्पूर्ण मनुष्यता का कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण भी नष्ट हो जाता है। यदि मनुष्य में कुछ भी सभ्य होता, तो हर राष्ट्र चीन द्वारा तिब्बत पर किये गये आक्रमण के विरूद्ध खड़ा हो जाता। यह चेतना पर पदार्थ का आक्रमण है।

–ओशो रजनीश

दक्षिण अफ्रीका में रंग भेद मिटाने हेतु संघर्ष करने वाला भारत क्या यह नहीं जानता है कि उसकी सीमाओं पर शांति रंग भेद विरोधी आंदोलन से नहीं, बल्कि तिब्बत की आजादी से आयेगी। तिब्बत की आजादी जरूरी है, भारत के छीने हुए भू-भाग की वापसी के लिए, तिब्बत की आजादी जरूरी है एशिया में शांति और शक्ति सन्तुलन के लिए।

–नरेश मेहता, प्रख्यात साहित्यकार

यदि भारत ने तिब्बत को मान्यता प्रदान की होती, जैसा कि उसने १९४९ में चीनी गणराज्य को प्रदान की थी, तो आज भारत-चीन सीमा विवाद न होकर तिब्बत-चीन सीमा विवाद होता। माओ को पंचशील में थोड़ा भी विश्वास नहीं है और यह भी कि राजनीति में पंचशील का कोई स्थान नहीं होता। चीन को ल्हासा पर अधिकार करने देकर प्रधानमंत्री ने चीनी लोगों को अपनी सेनाएं भारत की सीमा पर ले आने में पूरी सहायता पहुंचाई है।

–डा. भीमराव अंबेडकर

एशिया में कम्युनिस्ट चीन के उभरने से इससे भी ज्यादा खतरनाक स्थिति पैदा हो गई है जो दुनिया के इस भाग के लोगों के बीच किसी तरह की महाद्वीपीय एकता की किसी भी संभावना के रास्ते में तन कर खड़ी हो गई है। इससे एक ऐसा विशालकाय गुट पैदा हो गया है जो बहुत आसानी से पूरे उत्तरी एशिया को दो विशालकाय कम्युनिस्ट ताकतों रूस और चीन के बीच जकड़ कर रख सकता है। वह दक्षिण-पश्चिम एशिया और तिब्बत पर पूरी तरह छा कर उनके सामने उन्हें हजम कर लेने का खतरा पेश कर सकता हैऔर भारतीय सीमाओं तक के सारे क्षेत्र पर कब्जा जमा लेने की हद तक जा सकता है। इससे भारत की और पश्चिम एशिया की सुरक्षा को गंभीर खतरा पैदा हो जायेगा।

–महर्षि अरविन्द

परम पावन दलाई लामा धर्म के मार्ग पर चल रहे हैं और धर्म की विजय निश्चित है। यही ईश्वरीय इच्छा है। वे भारत में रह कर तिब्बत मुक्ति में संघर्ष का मार्ग दर्शन करें, इसके लिए उन्हें हर प्रकार का सहयोग करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है।

–कुप्प.सी. सुदर्शन

तिब्बत पर चीनी हमला घृणित कृत्य है। लेकिन यह बुराई साम्यवाद में निहित है और पूंजीवाद में भी। हंगरी पर रूसी हमला, तिब्बत पर चीनी हमला, मिस्र पर अंग्रेजी–फ्रांसीसी हमला सब उसी बुराई के नतीजे हैं।

–राम मनोहर लोहिया

दुख की बात यह है कि ऐसे देश जिन्होंने अभी हाल ही तक अपनी आजादी के लिए संघर्ष किया और आजाद हुए, अब वे तिब्बत के सवाल पर साम्राज्यवाद के गले सड़े फार्मूले की आड़ लेकर तिब्बत से वह हक छीनना चाहते हैं जिसे पाने के लिए वे खुद संघर्ष करते रहे हैं।

–जय प्रकाश नारायण

भारतीय और तिब्बती धर्म साधना के मूल स्रोत एक ही हैं। धर्म साधना का क्षेत्र भी समान है। पूजित देवी देवता भी किसी न किसी रूप में एक ही हैं। लोकपाल और यमपाल भी एक ही हैं। लोक संस्कृति का धरातल समान है। भाषाओं के उद्गम समान हैं। कैलाश मानसरोवर के प्रति निष्ठा और आस्था एक समान है। आधुनिक युग में भी दोनों देशों की पीड़ा के कारण एक समान हैं। दोनों देशों में ड्रैगन की लपलपाती जीभ समान रूप से घूम रही है। इसलिए उसका सामना करने के लिए दोनों देशों के हित समान हैं।

–इन्द्रेश कुमार

भारत ने तिब्बत के समर्थन में सहमति जुटाने के लिए कोई सक्रिय प्रयास नहीं किया। जबकि भारत को ही तिब्बत की सबसे ज्यादा चिन्ता होनी चाहिये थी। इस स्थिति में विश्व की बड़ी शक्तियों ने भी इस अभागे राष्ट्र से मुंह फेर लेना ही ज्यादा सुविधा जनक समझा। नई दिल्ली ने इस सम्भावना के बारे में सोचा ही नहीं कि कोरिया में युद्ध और तिब्बत पर प्रस्तावित आक्रमण अन्य एशियाई भू–भागों में कम्युनिज्म फैलाने की सोची समझी साजिश का भी हिस्सा हो सकती है।

–गिरिलाल जैन



संदर्भ ग्रन्थ सूची

हिन्दी

१. अर्चा टुलकु, महात्मा चोङ्खापा जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, वाराणसी, केन्द्रीय उच्च तिब्बती अध्ययन संस्थान, १९९६

२. आनंद कुमार (संपादक), तिब्बत मुक्ति आंदोलन और भारत, नई दिल्ली, साहित्य सहकार, १९९४

३. इन्द्रेश कुमार, तिब्बत की त्रासदी, धर्मशाला, भारत–तिब्बत सहयोग मंच, २००३

४. ओ. व. मर्तीशिन (हिन्दी अनुवाद, ददन उपाध्याय) जवाहरलाल नेहरू और उनके राजनीतिक विचार, मास्को, प्रगति प्रकाशन, १९९०

५. ऋचा श्रीवास्तव, भारत तिब्बत सम्बन्ध, नई दिल्ली, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, १९९९

६. कमल किशोर गोयनका (संपादक), पंडित दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन, नई दिल्ली, दीनदयाल शोध संस्थान, १९७२

७. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री, तिब्बत समस्या की पृष्ठ भूमि, धर्मशाला, भारत–तिब्बत सहयोग मंच, २००२

८. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री, यात्रा के मील पत्थर, धर्मशाला, भारत–तिब्बत सहयोग मंच, २००३

९. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री (संपादक) तिब्बत और तिब्बत के लोग, नई दिल्ली, भारत–तिब्बत समन्वय केन्द्र, प्रथम संस्करण

१०. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री (संपादक), हिमालयी क्षेत्र : आंतरिक एकता के सूत्र, धर्मशाला, भारत–तिब्बत सहयोग मंच, २००२

११. चमन लाल गुप्ता, तिब्बत की आजादी भारत की सुरक्षा, धर्मशाला, भारत तिब्बत सहयोग मंच, २०००

१२. चमन लाल गुप्ता, परम पावन दलाई लामा जी का सार्वजनिक अभिनन्दन, धर्मशाला, भारत–तिब्बत सहयोग मंच, २०००

१३. चरण शांडिल्य, भारत–चीन सीमा विवाद, गाजियाबाद (उ.प्र.) पं सुन्दर लाल इन्स्टीच्यूट ऑफ एशियन स्टडीज, १९९९

१४. तरुण विजय, कैलास–मानसरोवर यात्रा : साक्षात शिव से संवाद, देहरादून, ऋत्विक प्रकाशन, १९९८

१५. दलाई लामा, (हिन्दी संस्करण संपादक विजय क्रांति), आजाद शरणार्थी, नई दिल्ली, पालजोर प्रकाशन, प्रथम संस्करण

१६. भारतीय जनता पार्टी, भारतीय जन संघ पार्टी दस्तावेज, खण्ड–३, नई दिल्ली, २००५

१७. माधव राव सदाशिव गोलवलकर, श्री गुरुजी समग्र (खण्ड १ से १२ तक), नागपुर, डा. हेडगेवार स्मारक समिति, युगाब्द ५१०६

१८. माधव राव सदाशिव गोलवलकर, विचार नवनीत, जयपुर, ज्ञान गंगा प्रकाशन, सम्वत् २०५३

१९. रमेश सिन्हा, सं. वीरेन्द्र त्रिपाठी, जीवन संघर्ष, लखनऊ, (उ.प्र.), इंडिया पब्लिशर्ज, १९९९

२०. रमेश चंद्र तिवारी (संपादक), सम्मेलन पत्रिका, वाराणसी, भारत तिब्बत मैत्री संघ, २००१

२१. राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, संकल्प, नई दिल्ली, सुरुचि प्रकाशन, १९९४

२२. राहुल सांकृत्यायन, माओ–चे–तुंग, नई दिल्ली, किताब महल, १९९८

२३. रेणु ठाकर, तिब्बती रामायण–एक अध्ययन, शिमला, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय पीएच.डी. का अप्रकाशित शोध प्रबंध

२४. श्याम नाथ मिश्र (संपादक), सम्मेलन पत्रिका, नई दिल्ली, भारत तिब्बत मैत्री संघ, २००४

२५. वाचस्पति गैरोला, भारत के उत्तर–पूर्व सीमान्त देश, लखनऊ, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, १९६८

२६. विजय शंकर चौबे (सम्पादक) सम्मेलन स्मारिका, नई दिल्ली, भारत तिब्बत मैत्री संघ, १९९८

२७. स्वामी दयानन्द, सत्यार्थ प्रकाश, नई दिल्ली

अंग्रेजी

1. *Ajay B Agrawal, India Tibet & China, Mumbai, N.A. Books International, 2003.*
2. *Amartya Sen, The Argumentative Indian, New Delhi, Penguin Books, 2005*
3. *Anil Rajimwale, Glimpses of CPI history, New Delhi, Peoples Publishing House, 2005.*
4. *Blake Kerr, The Sky Burial, New York, Snow lion Publishers, 1997.*
5. *Central Tibetan Administration, Tibet Under Communist China 50 Years, Dharmshala, 2001.*
6. *D. R. Choudhury, The North-East Frontier of India, Kolkata, The Asiatic Society, 1978.*
7. *Dawa Norbu, Tibet the road ahead, New Delhi, Harper Collins, 1999.*
8. *Govt. of India, India Prepares, New Delhi, 1963*

9. H.C. Bhayani, Dohakosgiti, Varanasi, Central Institute of Higher Tibetan Studies, 1998
10. Hemen Ray, Peking and the Indian Communist, Mumbai, Jaico Publishing House, 1980
11. Jayprakash Narayan, The Tragedy of Tibet, New Delhi, Indo-Tibet Friendship Society, 1995
12. K.K Tiwari, A Soldier's Voyage Of Self Discovery, Auriville, 2000.
13. L.L. Mehrotra, India's Tibet Policy, New Delhi, Tibetan Parliamentary and Policy Research Centre, 2000
14. Melvyn C Goldstein, A History of Modern Tibet, Berkeley, University of California Press, 1991
15. Mohit Sen, A Traveller and the Road, The journey of an Indian Communist, New Delhi, Rupa & Co. 2nd reprint, 2003
16. O.C. Handa, Buddhist Western Himalaya Part-I, New Delhi, Indus Publishing Company, 2001
17. Sakyapa Sonam Gyaltsen, (English translation) McComas Taylor & Lama Choedak Yuthok, The Clear Mirror, New York, Snow Lion Publications, 1996
18. Satya Narayan Sinha, Adrift On The Ganga, Mumbai, Bhartiya Vidya Bhavan, 1964
19. Sita Ram Goel, Genesis and growth of Nehruism, Vol-1, New Delhi, Voice of India, 1993
20. Subramanian Swamy, India's China perspective, New Delhi, Konark Publishers, 2001.
21. Sydney Wignall, Spy On the Roof Of The World, New Delhi, Penguin Books, 2002
22. Tsepon W.D. Shakbpa, Tibet: A Political History, New York, Potala Publications, 1988

23. *Tsering Shakya, The Dragon in the Land of Snows, London, Pimlico, 1999*

24. *V.B. Karnik, The Chinese Invasion, Mumbai, Bhartiya Vidya Bhavan, 1966*

25. *Ya Hanzhang, The Biographies of the Dalai Lamas, Beijing, Foreign Languages Press, 1991*

पत्र–पत्रिकाएं

१. पाञ्जजन्य, नई दिल्ली

२. हिन्दु विश्व, नई दिल्ली

३. तिब्बत देश, नई दिल्ली

४. *Organiser New Delhi*

५. *New Age*



डा० अग्निहोत्री का अन्य लेखन

१. गुरू गोविन्द सिंह - व्यक्तित्व और कृतित्व
२. घेरे के बंदी (कहानी संकलन)
३. विविधा (निबंध संकलन)
४. एक भारत और भी (विदेश यात्रा संस्मरण)
५. ईरानी क्रांति और उसके बाद
६. गुरूवाणी की व्याख्या प्रणालियां
७. यात्रा के मील पत्थर
८. हिमाचल के अधिकारों का प्रश्न
९. प्रवासी हिन्दी साहित्य
१०. एक और जलियांवाला
११. तिब्बत और तिब्बत के लोग
१२. दादा साहेब आपटे - व्यक्ति और कार्य —

डा० कुलदीप चन्द अग्निहोत्री



डा० अग्निहोत्री (... ५.१६४६) की शिक्षा दीक्षा पंजाब में हुई। बीएस.सी. करने के पश्चात् हिन्दी साहित्य और राजनीति विज्ञान में, एम.ए. किया। कुछ साल वकालत भी की। गांधी अध्ययन, अनुवाद, तमिल, संस्कृत, दूरस्थ शिक्षा में डिप्लोमा प्राप्त किया। पंजाब विश्वविद्यालय से आदिग्रन्थ आचार्य की उपाधि प्राप्त की। प्रसिद्ध उपन्यासकार वैद्य गुरुदत्त के कथा साहित्य पर पीएच.डी के उपरांत शिवालिक कॉलेज नया नंगल में पढ़ाने लगे। उससे पहले गुरू नानक खालसा कालेज सुलतानपुर लोधी और सिक्ख नैशनल कालिज बंगा में भी पढ़ाते रहे। १५ वर्षों तक बाबा बालकनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय (हिमाचल प्रदेश) में प्रधानाचार्य रहे। उसके बाद हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय में निदेशक का पद भी संभाला। हिमाचल प्रदेश में ही दीनदयाल उपाध्याय महाविद्यालय की स्थापना की। आपात् स्थिति में जेल यात्रा करने वाले डा० अग्निहोत्री पंजाब के कुछ जिलों में जनसंघ के संगठन मंत्री भी रहे। पंजाब में ही अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् के सचिव रहे। सत्ता प्रष्ठिानों से टकराने के कारण समय-समय पर पदच्युत होने पर न्यायालयों में लंबी लड़ाईयां भी लड़नी पड़ीं। लगभग दो दर्जन से ज्यादा देशों की यात्रा कर चुके डा० अग्निहोत्री की दस से भी अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी पुस्तक एक और जलियांवाला को सरकार ने प्रतिबंधित ही नहीं किया बल्कि लेखक पर बाकायदा मुकद्दमा भी दर्ज करवा दिया। उसके चलते अग्निहोत्री को उच्च न्यायालय से अग्रिम जमानत करवानी पड़ी। पत्रकारिता में कुछ समय जनसत्ता से भी जुड़े रहे। संप्रति भारत-तिब्बत सहयोग मंच के अखिल भारतीय संयोजक हैं और दिल्ली में हिन्दुस्थान समाचार से जुड़े हुए है।